॥ ओ३म् ॥

कब तक मौन रहेंगे?

पूर्वजों द्वारा बुद्धिपूर्वक प्रकाशित ज्योतिष्मान्
पथ की रक्षा करो {ऋग्वेद १०/५३/६}

ऋषि की अनुपम कृति सत्यार्थ प्रकाश में संशोधन अधिकार किसी को भी नहीं

हम हाथ जोड़कर, हृदय में वेदना लिये, अश्रुपूरित नेत्रों से समस्त आर्य विद्वानों, नेताओं तथा आर्यजनों से अनुरोध करते हैं कि यह कदापि आवश्यक नहीं कि वे हमारी बात पूर्णतः मान लें पर उस पर उसके महत्व पर विचार अवश्य करें क्योंकि सम्भवतः अभी अत्यधिक देर नहीं हुई है। सत्यार्थ प्रकाश की रक्षा से आवश्यक और पवित्र दायित्व कोई भी नहीं है। हमें सार्वदेशिक सभा तथा परोपकारिणी सभा के मान्य अधिकारीगणों को 'एकरुप सर्वांग शुद्ध ऋषि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश, के प्रकाशन हेतु निवेदन करना होगा। फिर भी अगर सभाधिकारियों की निद्रा नहीं टूटती तो वैकल्पिक उपाय सोचने होंगे। जागो, उठो, कहीं देर न हो जाय। जो विद्वान् मौन हैं उनके चरणों में सक्रियता हेतु निवेदन है।

- अशोक आर्य

श्रीमद् दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश न्यास
नवलखा महल परिसर, गुलाब बाग
महर्षि दयानन्द मार्ग, उदयपुर-313001

सत्यार्थ प्रकाश द्वितीय संस्करण में रह गयी कतिपय अशुद्धियों के संबंध में-

'श्री स्वामी जी के पास अवकाश का सदा अभाव रहा और उनके पास ऐसे सूक्ष्म काम (प्रमाण पते मूल ग्रन्थों से मिलाने) के लिये योग्य विद्वान् नहीं थे। यह काम होता ही सहायकों के आश्रय पर है। **इसीलिये मैंने सत्यार्थ प्रकाश के मूल पाठों में हेर फेर करना पाप समझा है।** स्वामी श्री दयानन्द सरस्वती के आपतत्त्व में इस बात से अणुमात्र भी अन्तर नहीं पड़ता। विद्वानों का यही मत है और होगा।

- पं० भगवद्दत्त 'रिसर्च स्कालर'

लेखक : **अशोक आर्य**
कार्यकारी अध्यक्ष,
श्रीमद् दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश न्यास,
उदयपुर
मोबाइल : ६४१४१६२४०१

© प्रकाशक : **श्रीमद् दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश न्यास**
उदयपुर-३१३००१, {०२६४/२४१७६६४}

मुद्रक :- **तरुण ऑफसेट प्रैस**

सहयोग : **२५ रूपये मात्र**

भूमिका

सत्यार्थ प्रकाश के संशोधनों की समस्या

डॉ. भवानीलाल भारतीय

स्वामी दयानन्द का अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश एक कालजयी रचना है। इसे सर्वप्रथम १८७४-७५ में स्वामी जी ने मुरादाबाद के राजा जयकृष्ण दास की प्रेरणा से लिख कर वाराणसी से छपवाया था। स्टार प्रेस में यह पुस्तक छपी थी। स्वामीजी ने इस संस्करण में लेखक (लिपिकार) द्वारा की गई मिलावटों की ओर ध्यान दिलाये जाने पर विज्ञापन प्रकाशित कर अपना स्पष्टीकरण तुरन्त दे दिया था। इसमें दो बातें तो स्पष्ट आपत्तिजनक तथा स्वामी जी के मन्तव्यों के प्रतिकूल थीं। (१) यज्ञों में पशु हिंसा (बंध्या गाय का वध आदि) (२) मृतक श्राद्ध। एक तीसरी बात की ओर आस्ट्रेलिया के प्रोफेसर डॉ. जार्डन्स ने अपने शोधपत्र में हमारा ध्यान आकर्षित किया था और मैंने भी प्रथम संस्करण के बारे में लिखे अपने विवेचनात्मक लेख में इसकी चर्चा की थी। प्रथम संस्करण में दयानन्द के दार्शनिक विचार बहुत कुछ विशिष्टाद्वैत जैसे लगते हैं। रामानुज की भांति वे भी जीवात्माओं को परमात्मा से उत्पन्न मानते प्रतीत होते हैं। (द्रष्टव्य-गीता की उक्ति 'अग्नि से उत्पन्न विस्फुलिंगों की भांति जीवों का उद्गम परमात्मा है।') निश्चय ही आगे चलकर स्वामीजी के विचारों में परिवर्तन आया और वे जीव, ईश्वर तथा प्रकृति के अनादित्व को मानने लगे।

अब प्रथम संस्करण में छपी भूलों को दृष्टि पथ में रख कर श्री महाराज ने सत्यार्थ प्रकाश का आद्यन्त संशोधन किया और स्वस्थापित वैदिक यंत्रालय में मुद्रणार्थ भेजा। उपस्थित प्रमाणों से सिद्ध है कि तेरहवें समुल्लास पर्यन्त संशोधित सत्यार्थ प्रकाश स्वामीजी के जीवनकाल में ही मुद्रित हो गया था और इसके छपे पृष्ठों को यदाकदा वे जिज्ञासुओं से मूल्य लेकर दे भी देते थे। ग्रन्थ लेखन और प्रकाशन-मुद्रण का एक सामान्य नियम (चलन) है कि लेखक अपनी पहली पाण्डुलिपि को पुनः संशोधित करता है तथा प्रेस में मुद्रणार्थ भेजने के लिए उसकी प्रेस कापी तैयार करता है, यही छपने के लिए प्रेस में भेजी जाती है। लेखक की दृष्टि में यही प्रामाणिक होती है (मुद्रणजन्य भूलों को लेखक पर नहीं डालना चाहिए) और इसी के लिए लेखकों को उत्तरदायी ठहराया जाता है। अतः स्पष्ट है कि श्री महाराज के निधन के बाद **१८८४ में छापे सत्यार्थ प्रकाश का यह द्वितीय वस्तुतः प्रथम (क्योंकि १८७५ के संस्करण की चर्चा अब अप्रासंगिक है) संस्करण ही दयानन्द लिखित माना जायेगा।** जब प्रेस कापी छपने के लिए चली जाती है तो प्रथम रफ या आद्य पाण्डुलिपि का कोई महत्त्व नहीं रहता क्योंकि इसका आद्यन्त संशोधन स्वयं लेखक कर चुका है। यदि इसमें कोई तथ्य विषयक या मुद्रणजन्य भूल रहती है तो उसका दायित्व भी लेखक तथा मुद्रक पर ही होता है। उदाहरणार्थ यदि ग्रन्थों के संदर्भ देने, उद्धरणों की याथातथ्यता में भूल होने अथवा दशम समुल्लास में गोरक्षा की उपयोगिता सिद्ध करने के प्रसंग

में की गई गणितीय प्रक्रिया में कोई गिनती की भूल रह जाने आदि के प्रसंग आते हैं तो इन स्खलनों का संकेत सम्पादक फुट नोट में भले ही करे, **उसे मूल में परिवर्तन नहीं करने चाहिए।** सत्यार्थ प्रकाश के प्रकाशन के तुरन्त पश्चात् पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र, पं. कालूराम, पं. अखिलानन्द की कोटि के पौराणिक पण्डितों ने इस कालजयी ग्रन्थ में उनकी दृष्टि में रही तथ्यगत् भूलों की ओर तीखे आक्षेप किये थे। यथा प्रहलाद की कथा में लौहस्तम्भ पर चीटियों का चलना, हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी को चटाई की भांति लपेटना, 'साध्याऋषयश्चये' के स्थान पर 'मनुष्याऋषयश्च' लिखना, मनु के प्रमाण से 'विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्' को उद्धृत करना आदि। इन्हें सत्यार्थ प्रकाश के वर्तमान प्रकाशक यथातथा छापें किन्तु उचित टिप्पणी पाद टिप्पणी में दे दें।

मैंने श्री अशोक आर्य द्वारा लिखित सत्यार्थ प्रकाश विषयक इस आलेख को सावधानीपूर्वक पढ़ा है। मेरे निष्कर्ष निम्न हैं:-

१. प्रेस लिपि के रहते रफ कापी की कोई उपयोगिता नहीं है। हम स्वयं अपने ग्रंथों की प्रथम हस्तलिखित कापी को 'डिस्कार्ड' कर देते हैं। उसका आद्यन्त संशोधन अथवा पुनर्लेखन करने के पश्चात् यह प्रति मात्र संग्रहालय की वस्तु रह जाती है।
२. सत्यार्थ प्रकाश के १८८४ के संस्करण का १३वें समुल्लास पर्यन्त प्रूफ संशोधन स्वामीजी ने स्वयं किया था अतः इसका सम्पूर्ण दायित्व लेखक (ऋषि) पर है। **उस पर कलम चलाने या कतर ब्यौंत करने का हमें कोई अधिकार नहीं है।**
३. **संशोधन के दम्भ में रफ कापी तथा दूसरे संस्करण में घालमेल करना मूलग्रन्थ को विकृत करना है।**

यह सब होने पर भी सत्यार्थ प्रकाश पर कथित संशोधकों (सम्पादकों) का कलम कुठार चला है, किसी ने इसे प्रमादवश किया तो किसी ने समझबूझ कर, यहां तक कि गुड फेथ में भी। उदाहरणार्थ-

१. स्वामी वेदानन्द तीर्थ को यह भ्रांति हुई कि दयानन्द विवेचित कतिपय प्रसंग संशोधन, सुधार आदि की अपेक्षा रखते हैं अतः उन्होंने बिना कोई पूर्व सूचना या टिप्पणी दिये मूल आलेख में मनमाने बदलाव कर डाले। ग्रंथकार (दयानन्द) की पुष्टि में अपने स्वाध्याय के बल पर उन्होंने जो अतिरिक्त पाद टिप्पणियां (अतिरिक्त) दीं वे तो मूल्यवान ही हैं।
२. स्वामी जगदीश्वरानन्द जी के द्वारा संशोधित सत्यार्थ प्रकाश को छापने के पीछे दो कारण रहे हैं:-

(अ) स्वामी दयानन्द का हिन्दी गद्य पुराना, अपरिष्कृत था। अतः उसे परिष्कृत किया जाये। ऐसा ही भाषा संशोधन बहुत पहले अजमेर में स्व. पं. भूदेव शास्त्री ने १-२ समुल्लासों का किया था। यह आर्य साहित्य मण्डल ने छापा था।

(ब) सत्यार्थ प्रकाश में कतिपय ऐसे स्थल (प्रसंग) हैं जो आज के संदर्भ में असमीचीन अनौचित्यपूर्ण, अव्यवहार्य तथा अप्रासंगिक हैं। इन्हें हटा देना चाहिए। यथा - नियोग, धाई से बालक को दूध पिलाना आदि।

(स) मुंशी समर्थदान को कोसना व्यर्थ है।

३. कतिपय महानुभावों ने रफ कापी के प्रसंगों को वर्तमान संस्करण में अन्तर्युक्त कर ग्रंथ का प्रचलित रूप विकृत कर दिया।

नतीजतन यदि सौ वर्षों की अवधि में छपे इस ग्रंथ के विभिन्न संस्करणों की तुलना करें तो हास्यास्पद स्थिति खड़ी हो जाती है। क्या दयानन्द जैसे सुधी और सतर्क लेखक की कालजयी कृति का यही हश्र होना चाहिये? श्री अशोक आर्य ने तो मात्र प्रस्तावना रखी है। दयानन्द के नाम लेवा लोगों के लिए तो यह अतिरिक्त चेतावनी और चुनौती है कि वे इस अराजकता को उत्पन्न न होने दें। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को पूर्वाग्रह की दृष्टि से देखना और विचार विमर्श की मेज पर न आना और भी भयावह तथा दुःखद है। शिशुपाल वध की पूर्व पीठिका में जिस प्रकार बलराम ने सभा को सम्बोधित कर कहा था कि आगे की कार्यप्रणाली को निश्चित करने के लिए ही मैंने अपने ये वचन नाट्यारम्भ में प्रस्तुत की जाने वाली प्रस्तावना (नान्दीपाठ - सूत्रधार के वाक्य) के तुल्य प्रस्तुत किये हैं। यही अभिप्राय मेरे इस वक्तव्य का भी है।

महाकवि माघ ने लिखा था -

भवद्गिराम् अवसर प्रदानाय वचांसि नः।
पूर्व रंग प्रसंगाय नाटकीयस्य वस्तुनि।।

नन्दनवन जोधपुर
कार्तिक शु. दशमी २०६१ वि.

इस घर को आग लग गई घर के चिराग से

आज से लगभग एक वर्ष पूर्व अतीव आन्दोलित मनःस्थिति में एक पत्र आर्य जगत् के १७ मूर्धन्य विद्वानों की सेवा में सत्यार्थ प्रकाश के साथ किए गये तथा किए जा रहे अन्याय के सन्दर्भ में प्रेषित किया था। इस पत्र के साथ एक तुलन पत्र भी प्रेषित किया था जिसमें भगवती लेजर प्रिन्टर्स दिल्ली द्वारा प्रकाशित सत्यार्थ प्रकाश तथा पूज्य पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक के द्वारा सम्पादित सत्यार्थ प्रकाश के १२वें समुल्लास के एक प्रकरण की तुलना करने पर १३६ पाठभेद ही नहीं पैराभेद भी दिखाये गये थे। इस पत्र को पूज्य राजवीर जी शास्त्री ने 'दयानन्द सन्देश' में प्रकाशित भी कर दिया था। प्रत्युत्तर में लगभग १० मान्य विद्वानों के तुरन्त पत्र भी प्राप्त हुए जिसमें प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश में व्यापक फेरबदल करने वाले प्रकाशकों की तीव्र भर्त्सना की थी। पर कुछ विद्वानों से कोई भी प्रतिक्रिया प्राप्त नहीं हुयी। न सकारात्मक और न नकारात्मक। यह आश्चर्य जनक बात थी। और भी आश्चर्य यह था कि जिन विद्वानों ने ९८-९९ में परोपकारिणी सभा के ३७वें संस्करण को इतना भ्रष्ट बताया था कि उसे जला देना चाहिये, अब वे ही मौन थे। एक मान्य मूर्धन्य विद्वान् से उनके उदयपुर पधारने पर व्यक्तिगत तौर पर बात की परन्तु उन्होंने स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। उनके चेहरे से जो मनःस्थिति प्रकट हो रही थी वह द्योतक थी कि वे सत्य को स्वीकार तो कर रहे हैं उनकी आत्मा पाठ-भेद कर्त्ताओं की करतूत को अच्छा नहीं मानती पर न जाने क्यों वे चुप ही थे। मैंने उनके चरणों में इस विषय पर गहन चिन्तन करने का निवेदन किया और उन्होंने हमें आश्वस्त भी किया। उल्लेखनीय यह है कि आज तक किसी भी विद्वान् का (श्री विरजानन्द जी दैवकरणि को छोड़कर) पाठ भेद कर्त्ताओं के समर्थन में कोई पत्र नहीं आया। और न ही आ. वेद व्रत जी शास्त्री के सर्वहितकारी में छपे लेख के अतिरिक्त कोई लेख भी दृग्गत् हुआ।

इसके पश्चात् ऐसा लगने लगा कि सत्यार्थ प्रकाश जैसे आर्यों की आस्था के केन्द्र कालजयी ग्रन्थ रत्न में, उसके लेखक महर्षिवर देव दयानन्द के निधन के पश्चात्, अनधिकृत रुप से व्यापक फेरबदल करने की, आर्य जगत् के समक्ष सर्वाधिक गम्भीर चुनौती के बारे में आर्य विद्वानों द्वारा अपेक्षित ध्यान न दिये जाने के कारण बात आई गयी हो गयी। यद्यपि यह अत्यधिक आश्चर्यजनक है। हमारे एक शीर्षस्थ आर्य विद्वान् जो दयानन्द के सिद्धान्तों पर रत्ती भर भी प्रहार होने पर प्रहारकर्त्ता की बखिया उधेड़ देते हैं, न जाने क्यों दयानन्द के सिद्धान्तों के सर्वाधिक प्रामाणिक दस्तावेज सत्यार्थ प्रकाश पर 'अपनों द्वारा' किए गये प्रहार पर चुप रहे। अतएव हमने आर्यजनों की शरण में जाने हेतु एक संक्षिप्त लेख **'आपको कौनसा सत्यार्थ प्रकाश चाहिये?'** शीर्षक से लिख आर्य जगत् की १९ प्रतिष्ठित पत्रिकाओं को इस आशय से प्रेषित किया कि सम्पादक गण इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गम्भीर विषय को आम सुधी आर्यजनों तक तत्परता से पहुँचाएंगे। पर यहां भी ४-५ सम्पादक गण ही इस विषय को महत्त्वपूर्ण मानने में हमारे साथ सहमत हुए। जिन

पत्रिकाओं ने लेख नहीं छापा, उनके सम्पादकों की प्रतिक्रिया यदि लेख के विपरीत थी, तो भी हमें तब प्रसन्नता होती यदि वे लेख छाप कर अपनी विपरीत टिप्पणी भी दे देते। पर न तो उन्होंने ऐसा किया और न ही हमें लेख अपनी विरुद्ध टिप्पणी के साथ लौटाया। यह कैसा सम्पादन धर्म था? हमारी समझ में नहीं आया। क्या सत्यार्थ प्रकाश की रक्षा का प्रश्न महत्त्वहीन था?

पश्चात् पूज्य स्वा. (स्व.) तत्त्व बोध जी सरस्वती के प्रयासों से यह विषय माननीय कै. देवरत्न जी आर्य प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने धर्मार्य सभा के प्रधान विद्वद्वरेण्य पूज्य आचार्य विशुद्धानन्द जी को निर्णयार्थ सौंप दिया। एवं साथ में गुरुकुल कांगड़ी के कुलपति माननीय डॉ. स्वतंत्रकुमार जी के माध्यम से गुरुकुल के श्रद्धानन्द अनुसंधान विभाग को भी। क्योंकि हमारी अभिलाषा यह नहीं रही कि इस विषय में हम जो कह रहे हैं वही मान्य हो, वरन् हम चाहते थे, चाहते हैं कि सत्यार्थ प्रकाश की प्रामाणिकता को समाप्त कर देने वाले इन पाठभेदों को दूर कर, आर्य विद्वान् एकरुप सर्वांग शुद्ध सत्यार्थ प्रकाश का पाठ निश्चित करें ताकि सत्यार्थ प्रकाश कहीं से भी छपे उसका एक-एक शब्द एक दूसरे से मेल खाता हो क्योंकि आखिर यह कैसे सम्भव है कि एक ही लेखक की वही रचना विभिन्न प्रकाशकों के यहां से भिन्न-भिन्न पाठ प्रस्तुत करती हो। स्पष्टतः यह लेखक की नहीं सम्पादकों/प्रकाशकों की गलती है। अतः हमने उक्त दोनों विद्वानों के चरणों में निवेदन किया कि वे सार्वदेशिक सभा, परोपकारिणी सभा, सत्यार्थ प्रकाश के विभिन्न प्रकाशकों तथा अन्य आर्य विद्वानों के सहयोग से सत्यार्थ प्रकाश की एकरुपता को सुनिश्चित करें। गुरुकुल कांगड़ी में इस सम्बन्ध में क्या प्रगति रही हमें पता नहीं परन्तु पूज्य आचार्य विशुद्धानन्द जी से निरन्तर पत्र सम्पर्क है। वे इस विषय की अति गम्भीरता को समझ इसके समाधान हेतु समुत्सुक हैं। परन्तु क्षमा याचना सहित कहना चाहूंगा कि सभा ने धर्मार्य सभा के प्रधान जी को उनकी अवस्था को ध्यान में रखते हुए समुचित साधन उपलब्ध नहीं कराए। ऐसा आचार्य जी ने कभी नहीं कहा, परन्तु उनके वृद्धावस्था के कारण कांपते हाथों से स्वहस्त लिखित जो पत्र प्राप्त होते हैं वह यही कह रहे हैं। इस प्रकरण में लेखन की व्यापकता अनिवार्य है अतः सार्वदेशिक सभा के मान्य अधिकारियों से निवेदन है कि वे आचार्य जी को एक स्टेनो टाइपिस्ट उपलब्ध करावें तथा सत्यार्थ प्रकाश की सुरक्षा के सर्वोपरि महत्त्व की समस्या के समाधान हेतु विद्वानों की बैठक आदि बुलाने में होने वाले आवश्यक व्यय की भी व्यवस्था कराने की कृपा करें। कार्य में प्रगति तभी सम्भव है।

जो भी हो इस सम्बन्ध में अभी तक कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो पायी है। इस एक वर्ष में मैं पूज्य स्वामी तत्त्व बोध जी की निरन्तर प्रेरणा के फलस्वरुप इस विषय में और अध्ययन मनन करता रहा। फलस्वरुप मुझे निश्चय हुआ कि यद्यपि सत्यार्थ प्रकाश के प्रायः सभी संस्करण एक दूसरे से अक्षरशः नहीं मिलते परन्तु १६६१ से पूर्व के प्रायः सभी संस्करणों में एक साम्य था कि **वे संस्करण द्वितीय संस्करण की प्रामाणिकता को अमान्य नहीं करते**। अतः उनमें पाठभेद भी **अति व्यापक** नहीं थे। परन्तु १६६१ में ऋषि की स्थानापन्न उत्तराधिकारी सभा के निर्देश पर सत्यार्थ प्रकाश के ३७वें संस्करण के सम्पादक श्री विरजानन्द जी दैवकरणि ने इस साम्य सूत्र को त्याग, हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में से भी रफ प्रति (जिसे उन्होंने मूल प्रति का नाम दिया)

को मान्य किया फलतः प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश से अत्यन्त व्यापक पाठभेद रखने वाला ३७वां संस्करण अस्तित्व में आया। द्रष्टव्यः- 'मूल प्रति के पृष्ठ जहां अनुपलब्ध थे (जैसे १२वें समु. में) वहां मुद्रण प्रति का आश्रय लिया गया है।' (श्री दैवकरणि जी का ३७वें संस्करण के संबंध में वक्तव्य) इसी के आधार पर अन्य कई प्रकाशकों ने भी 'हमारा सत्यार्थ प्रकाश शुद्धतम है' ऐसा दावा कर, सत्यार्थ प्रकाश छापे तथा छाप रहे हैं। हमने इस सम्बन्ध में जो पढ़ा, चिन्तन किया, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि श्री दैवकरणि जी ने उस रफ प्रति को जिसे महर्षिवर ने किसी भी अन्य लेखक की भांति ही उसके उपयोग के पश्चात् स्वयं त्याग दिया था, अपने कार्य का आधार बनाकर महती भूल की है। इस प्रकार **३७वां संस्करण महर्षि जी के अभिप्राय के अनुकूल नहीं है**। अपना यह निष्कर्ष हम किसी पर भी थोपना नहीं चाहते अतः विस्तारपूर्वक लिखकर विद्वानों तथा सुधी आर्यजनों की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं, इस अनुरोध के साथ कि **प्रस्तुत लेख** को **एक बार पूरा, ध्यान से, अवश्य पढ़ें तथा अपने सुझाव से चाहें वे हमसे असहमत ही क्यों न हों, अवगत करावें।**

परोपकारिणी सभा के ३७वें व ३८वें संस्करण में तो व्यापक पाठभेद की ही समस्या है परन्तु पू. स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने तो अपने तथाकथित अभिनव संस्करण में महर्षि जी की मान्यताओं को ही सन्देह की दृष्टि से देखा है। फलस्वरुप अपनी सम्पादकीय कैंची इस बेरहमी से सत्यार्थ प्रकाश पर चलायी है कि रोना आता है। ऋतुदान प्रकरण, धायी प्रकरण, नियोग प्रकरण आदि न जाने कहां-कहां स्वामी जी ने न केवल ऋषि वाक्य वरन् वेद व मनुस्मृति के प्रमाणों को बाहर कर दिया है। आर्यों में धर्मग्रन्थ जैसा स्थान रखने वाले सत्यार्थ प्रकाश के साथ जो कुछ हुआ है, जो हो रहा है, वैसा विश्व में कहीं अन्यत्र सम्भव है? कदापि नहीं। अब बताएं आर्य समाज को मुर्दा क्यों न समझा जावे। अतः मेरा प्रयास यह एक पुनर्प्रयास है, सत्यार्थ प्रकाश की सुरक्षा के सम्बन्ध में आर्यो को झकझोरने का। यद्यपि मेरे लिये यह धर्म संकट का विषय है क्योंकि न चाहते हुए भी उन तीन महान् हस्तियों के प्रति कुछ आक्षेप आते हैं जिनका स्थान हमारी नजर में उस स्थल पर है कि हम टोपी लगाकर उनकी ओर देखना चाहें तो टोपी गिर जावे। वह हैं विद्वद्वरेण्य पूज्य स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, परम आदरणीय आर्य रत्न श्री गजानन्द जी आर्य जो परोपकारिणी सभा के प्रधान हैं, जिनके रोम-रोम में आर्य समाज के उत्थान की ललक है जो सर्वात्मना ऋषि मिशन के प्रति समर्पित हैं, जिनका हमारे व परिवार के ऊपर सदैव वरदहस्त रहा है वे हमारे लिये पितृतुल्य ही हैं। तीसरे श्रद्धेय भ्राता डॉ. धर्मवीर जी मंत्री परोपकारिणी सभा, जो आज सभा को नये उच्च शिखर तक ले जाने के कारक बने हैं जिनकी विद्वता को हम शत-शत नमन करते हैं। परन्तु कर्त्तव्य बोध से विवश हो इस लेख में जो कुछ लिखा है उससे इन आत्मीय जनों को कहीं अप्रिय लगे तो छोटा समझकर हमें क्षमा करें। और हमारी इस प्रार्थना पर ध्यान दें कि **सत्यार्थ प्रकाश की सुरक्षा आप जैसे महनीय व्यक्तियों का दायित्व है अतः किसी भी प्रकरण में पक्षपात, हठ को त्याग कर सत्यार्थ प्रकाश के सत्य स्वरुप को अक्षुण्ण रखने की कृपा करें।**

सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण में पण्डितों द्वारा मिलावट क्यों हो सकी उसके कतिपय कारणः-

(१) महर्षि जी को लेखन और मुद्रण के क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम अनुभव का होना।

(२) यत्र तत्र आवागमन तथा शास्त्रार्थ आदि की बहुलता होना। इस कारण शोधन कार्य स्थिर चित्त के साथ न होना।

(३) यह स्वप्न में भी न सोचना कि जिन राजा जी तथा पण्डितों पर वे विश्वास कर रहे हैं वे उनके साथ विश्वासघात भी कर सकते हैं।

(४) सबसे बड़ी बात कि शोधन का कार्य भी अन्यों के भरोसे छोड़ देना। प्रथम संस्करण की पाण्डुलिपि पर यद्यपि महर्षि जी के हाथ के संशोधन पाये जाते हैं पर ये उत्तरोत्तर न्यून होते गये हैं। इसका अर्थ है कि सम्पूर्ण शोधन कार्य व्यवस्थित रुप से महर्षि जी द्वारा नहीं किया गया। अन्यों को शोधने की जिम्मेदारी सौंपी गई।

देखिये सत्यार्थ प्रकाश (प्रथम सं.) छपने में देर हो रही थी तब महर्षि जी ने हरिवंशलाल जी को २३ जनवरी १८७५ को जो पत्र लिखा, उसके निम्न अंश उपरोक्त धारणा की पुष्टि में प्रमाण स्वरुप उपस्थित करते हैं -

(अ) कुरान के खण्डन का अध्याय शोधने हेतु मुरादाबाद गया था।

(ब) बाइबिल का अध्याय सब शोधकर छाप दो।

(स) दो महीने में छापने वास्ते जो आपने लिखा है सो दो महीने में पुस्तक छाप दो। **शुद्ध करके**, अशुद्ध न होने पाए। (ऋ. दयानन्द के पत्र और विज्ञा. पूर्ण सं. १६ भाग १ पृ. ४६)

(५) प्रक्षिप्त प्रकरण वाले पृष्ठ बाद में चिपकाए गये थे।

द्रष्टव्यः - 'सत्यार्थ प्रकाश (प्रथम संस्करण) के हस्तलेख में जिन-जिन पृष्ठों पर मृतक श्राद्ध और मांस भक्षण का उल्लेख है, उन पर तथा आस पास के पृष्ठों पर स्वामी जी के हाथ से संशोधन नहीं हैं। अतः स्वामी जी की अनुमति के बिना, ये बाद में बदले हुए पृष्ठ हैं। (सत्यार्थ विमर्श - डॉ. राम प्रकाश पृ. २४)। ऐसे ही विचार पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक के थे।

(६) 'संस्कृतवाक्य प्रबोध' के अशुद्ध छपने में भी ऐसे ही कारण रहे। ऋषि इसका कारण अपने श्रावण शु. १३ स.१६३७ के पत्र में बख्तावर सिंह को लिखते हैं - **'भीमसेन के अधीन शोधन का होना और मेरा न देखना न प्रूफ को शोधना।'** (पत्र वि.. पूर्ण सं. ३२६ भाग १ पृ. ३८७-८८)

हमारी तुच्छ मति में उपरोक्त कारण रहे जिससे सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण में व अन्य ग्रन्थों में मिलावट हुई। पर इसी मिलावट को आधार बना **द्वितीय संस्करण** के बारे में यह धारणा

प्रस्तुत करना कि महर्षि जी के अन्य लोकोपकारक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण यह द्वितीय संस्करण भी महर्षि के अभिप्राय के विरुद्ध छपा (देखें वैदिक यन्त्रालय के ३७वें संस्करण में श्री विरजानन्द जी देवकरणि का वक्तव्य) **सर्वथा अनुचित, उपलब्ध प्रमाणों के विरुद्ध, तथा महर्षि दयानन्द पर लगातार लापरवाही करने का आरोप लगाने जैसा है।** एक सामान्य बुद्धि तथा क्षमता वाला लेखक भी अपने ग्रन्थ में अशुद्धियां रह जाने पर द्वितीय बार छपवाने के समय में सर्वविध सतर्क रहता है। कहावत भी है कि दूध का जला छाछ को फूंक-फूंक कर पीता है। हम दृढ़ता से कहना चाहते हैं कि १८७५ की घटना के पश्चात् और विशेष रुप से सत्यार्थ प्रकाश का द्वितीय संस्करण छपवाते समय इसके मुद्रण से सम्बन्धित हर पक्ष पर ऋषि ने पैनी दृष्टि रखी थी। क्योंकि वे जानते थे कि उनके पश्चात् उनके ग्रन्थ ही उनके मन्तव्यों के प्रमाण होंगे। अगर इस समय ग्रन्थ दूषित हो गये तो सदैव के लिये अस्पष्टता तथा उलझन बनी रहेगी। परिस्थितियां भी कुछ अनुकूल बनी। यथा-

(१) महर्षि जी को लेखन और मुद्रण के क्षेत्र में पर्याप्त अनुभव हो चुका था। यहां तक कि वे कम्पोजिंग टाइप, टाइप निर्माण, किस जगह का टाइप उत्तम है, कागज कौनसा अच्छा है आदि आदि बातों की जानकारी रखते थे। यही नहीं प्रेस में कितना कागज है {देखें - अब तुम्हारे पास वहां कुल १० रीम बाकी है (१५ अक्टू. १८८२ का पत्र)} कितना टाइप है इसकी जानकारी रखना और इनके प्रबन्ध का भी यत्न करना, जिस व्यक्ति का कार्य हो, कैसे माना जाय कि वह प्रबन्ध सम्बन्धी उपरोक्त कार्य तो करे पर ग्रन्थों की शुद्धता के बाबत सतर्क न रहे?

यहां पर ध्यान रखना उचित होगा कि महर्षि जी सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन को लेकर विशेष उत्साहित थे।

द्रष्टव्यः-(अ) अब सत्यार्थ प्रकाश छपेगा। इसलिये भाषा के अक्षर अधिक मंगवाने चाहिये। संस्कृत पाठ के अक्षर भाषा से कुछ थोड़े उन्नीस-बीस होने चाहिये। (स्वामी जी द्वारा मुंशी समर्थदान को ८ सितम्बर १८८२ का लिखा पत्र)

(ब) सत्यार्थ प्रकाश **अच्छे कागज और टैप में छपवाना** (६ सित. १८८२)

(स) सत्यार्थ प्रकाश न सिर्फ शुद्धतम बल्कि सुन्दरतम भी छपे ऐसी ऋषि की आकांक्षा थी। वे मुंशी समर्थ दान को लिखते हैं 'और सत्यार्थ प्रकाश के छपाने को हमारा तो यही विचार है कि नवीन टेप में छपे। जो आरम्भ न किया होय तो पीछे छापना। और आरम्भ कर भी दिया हो तो उसमें संस्कृत के मूल वचन कुछ बड़े अक्षर में और भाषा छोटे में।' (२ अक्टू. १८८२ को लिखा पत्र - पत्र विज्ञा. पृ. ६१६)

(२) सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय संस्करण के मुद्रण काल में जल्दी-जल्दी एक स्थल से दूसरे स्थल तक यात्राओं की बजाए एकाधिक स्थल पर अधिक देर प्रवास का सुयोग मिला। इस काल में महर्षि जी उदयपुर, शाहपुरा व जोधपुर ही रहे। इन दिनों शास्त्रार्थ भी अल्प हुए। यह ग्रन्थ लेखन तथा उनके शुद्ध मुद्रण हेतु सचेष्ट रहने में अनुकूल स्थितियां थी।

(३) मुंशी समर्थदान जैसा योग्य, ऋषिभक्त, कर्त्तव्य निष्ठ, ईमानदार प्रबन्धक मिला। (मुंशी जी के विषय में विस्तार से लिखना इस लेख में आवश्यक है सो पृथक् लिखेंगे)

(४) निश्चित ही सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण में हुए प्रक्षेप के कारणों व उसके निवारण पक्ष पर महर्षि जी ने विचार किया होगा। अनेकों ग्रन्थों, जिसमें वेदभाष्य का बृहत्काय कार्य भी सम्मिलित था स्वयं महर्षि अपने हस्तलेख में लिखते यह असम्भव था। अतः लेखकों से तो काम लेना आवश्यक मजबूरी थी पर **शोधन का कार्य इस बार महर्षि जी ने किसी के भरोसे न छोड़ स्वयं करने का निश्चय कर लिया।** देखें - सम्भवतः श्री गोपालराव हरिदेशमुख ने शोधन कार्य में अपनी सेवाएं देनी चाही होंगी। प्रत्युत्तर में अपने पत्र द्वारा दिनांक ६ दिसम्बर १८७७ (पत्र विज्ञा. भाग १ पृ. १२३) को महर्षि लिखते हैं - ''हिन्दी के प्रूफ शोधन मेरा ही कार्य समझना चाहिये और मैं उसे प्रतिमास दो या तीन बार **अपने हाथ से करुँगा।**''

और महर्षि जी ने इस प्रतिज्ञा का पालन भी किया। इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। एक और उदाहरण देखें........'कोई नोट विज्ञापन शास्त्रार्थ खण्डन मण्डन और धर्माधर्म विषय का ज्ञापक हो **वह हमको दिखलाये बिना कभी न छपना चाहिये,** यह मेरे पास भेजा सो बहुत अच्छा किया। जो दिखलाये बिना छाप देते तो हमको इसके समाधान में बहुत श्रम करना पड़ता' (पत्र - विज्ञापन पूर्ण. सं. ४७३ भाग २ पृ. ५१६)

(१) ग्रन्थ ही नहीं आवश्यक होने पर पत्रों में भी संशोधन स्वहस्त से करते थे। द्रष्टव्य -बाबू नन्दकिशोर सिंह (जयपुर) को दिनांक ३१ मई १८८२ का लिखा पत्र जिसे स्वामी जी ने लाल स्याही से कतिपय स्थानों पर शोधा है। (आधार - ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन)

(२) मूल (रफ) प्रति पर अन्त तक तथा प्रेस प्रति पर १३वें समु. तक ऋषि के स्वहस्त से संशोधन उपलब्ध होना।

(३) छापने हेतु शोधी गयी सामग्री शीघ्र भेजने की प्रार्थना मुंशी समर्थदान ने ७ अक्टूबर १८८२ के पत्र में की थी। उसके प्रत्युत्तर में ऋषि ने लिखा -''प्रातःकाल से ११ या १२ बजे तक वेदभाष्य बनाते हैं पश्चात् अन्य काम **शोधने आदि का और वह काम ऐसा है कि बिना हमारे बन नहीं सकता।**

शोधने का कार्य अब ऋषि किसी को भी नहीं देना चाहते अतः शोधी गयी सामग्री देर से बननी स्वीकार है पर शोधन कार्य अन्य को देना नहीं। अतः समर्थदान जी की **'शीघ्र कीजिए'** के उत्तर में इसी पत्र में लिखते हैं -'जो एक फारम के अनुमान **नित्य प्रति शोधकर** तुम्हारे पास भेजा जाए तो यहां का सब काम अर्थात् वेदभाष्यादि का बनाना छूट जाए।' 'जैसा जल्दी तुम चाहते हो ऐसा तो तब हो सके कि **जब हम स्वयं छापे खाने में आकर तुमको शोध शोध दिया करें और तुम छापो।'**

कविराज श्यामलदास महामहोपाध्याय द्वारा उदयपुर प्रवास में स्वामी दयानन्द की दिनचर्या के वर्णन में कहा गया है -'..... पत्रों का उत्तर देते या **प्रूफ देखते।'** (जीवन चरित्र - पं. लेखराम, आर्ष साहित्य प्रकाशन पृ. ५५५)

जोधपुर में स्वामी जी महाराज की दिनचर्या के विषय में पण्डित लेखराम जी द्वारा लिखित महर्षि के जीवन चरित्र में लिखा है - 'फिर एक बजे सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि की कापियां जो **छपी हुईं आती उनको शोधते थे** और लोगों की चिट्ठियों के उत्तर भी उसी समय लिखवाते थे। (ऋषि दयानन्द का जीवन चरित्र - आर्ष साहित्य प्रकाशन पृ. ८३५)

उपरोक्त प्रमाणों के प्रकाश में स्पष्ट है कि, यद्यपि यह सत्य है कि महर्षि के समक्ष विविध कार्यों और समस्याओं का पहाड़ था, उनका उल्लेख अगर कोई करने लगे तो सहस्त्रों पृष्ठ भी कम हैं। **पर यह मानना कि उनमें व्यस्त रहने के कारण महर्षि जी के सिद्धांतों का निरुपण करने वाले ग्रन्थों में पुनः प्रक्षेप होता रहे, इस तरफ वे ध्यान नहीं दे पाये वास्तविकता से मुँह चुराना मात्र है।** क्या यह माना जाय कि सत्यार्थ प्रकाश, संस्कारविधि आदि के प्रथम संस्करणों में लेखक पण्डितों की धूर्तता का पता चलने के बाद भी ऋषि इतने लापरवाह थे कि उन ग्रन्थों के प्रणयन में जो उनके बाद उनकी मान्यताओं के एक मात्र विज्ञापक रहेंगे, पुनः लेखकों के प्रक्षेप होने देंगे? कदापि नहीं। ऊपर दिये प्रमाण महर्षि की सतर्कता को प्रमाणित करते हैं।

महर्षि दयानन्द की ग्रन्थ निर्माण प्रक्रिया

यहां, उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में हमें चाहिये कि हम महर्षि दयानन्द की ग्रन्थ निर्माण प्रक्रिया को समझने का प्रयास करें जो कि अत्यावश्यक है।

(१) महर्षि दयानन्द बोलकर लेखक को ग्रन्थ लिखवाते हैं। यह प्रति मूल प्रति या रफ प्रति कहलाती है। **सत्यार्थ प्रकाश की मूल प्रति या पाण्डुलिपि (रफ कॉपी) का विवरण निम्न प्रकार है।**

पृष्ठ १ से ६ तक	-	भूमिका
पृष्ठ १ से ५४२ तक	-	१ से ११ समुल्लास
पृष्ठ ५४३ से ६१७ तक	-	१२वां समुल्लास
पृष्ठ ६१८ से ७०० तक	-	१३वां समुल्लास
पृष्ठ ७०१ से ७६४ तक	-	१४वां समुल्लास
पृष्ठ १ से ८ तक	-	स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

विशेष

यह हस्तलेख अनेक लेखकों के हाथ का लिखा हुआ है। आदि से अन्त तक बहुत मात्रा में ऋषि दयानन्द के हाथ का संशोधन है। कहीं-कहीं पेन्सिल से भी संशोधन है। पेन्सिल के संशोधन प्रायः पृ. १-४० तथा ३६७ से ५४२ तक हैं।

(सौजन्यः- महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास - पं. युधिष्ठिर जी) (परिशिष्ठ १)

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि इस पाण्डुलिपि का महर्षि जी द्वारा पूर्ण निरीक्षण कर लिया गया तथा स्वहस्त से आदि से अन्त तक संशोधन किए हैं।

(२) तत्पश्चात् महर्षि लेखक/लेखकों से इसकी प्रति तैयार करवाते हैं। सत्यार्थ प्रकाश के संदर्भ में जो प्रैस प्रति तैयार की गयी उसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है -

संशोधित प्रेस प्रति का विवरण

इस कापी की पृष्ठ संख्या आदि से अन्त तक एक ही जाती है। १४वें समुल्लास में पृष्ठ संख्या की कुछ अशुद्धि है। यदि इसे ठीक कर दिया जाए तो कुल पृष्ठ संख्या ४२८ होती है।

पृ.सं. १-३७५ तक १-१३ समुल्लास

३७६ से ४६५ तक १४वां समुल्लास

४६६ से ४७३ तक स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश।

इस प्रति में आरम्भ से १३वें समुल्लास तक एक ही लेखक का लेख है। १४वां समुल्लास दूसरे व्यक्ति के हाथ का लिखा हुआ है। **इस हस्तलेख में काली और गुलाबी स्याही से ऋषि दयानन्द के हाथ का संशोधन आरम्भ से १३वें समुल्लास के अन्त तक विद्यमान है।**

(सौजन्यः- महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास - पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक परि.१)

उक्त विवरण के आधार पर बलपूर्वक कहा जा सकता है कि रफ पाण्डुलिपि से प्रेस पाण्डुलिपि में चाहे भाषा, वाक्य विन्यास आदि का भेद हो पर महर्षि जी ने निरीक्षण करके अपने हाथ से संशोधन किये हैं अतएव यह निश्चित है कि **कम से कम १३वें समुल्लास तक की प्रेस प्रति महर्षि सम्मत है** तथा पाठक विशेष ध्यान दें कि **इसी प्रेस प्रति के पन्ने महर्षि जी ने शुद्ध कर करके मुद्रण हेतु यंत्रालय प्रेषित किए थे न कि मूल प्रति के**। (आगे इस तथ्य को प्रमाणित करेंगे)।

श्री विरजानन्द जी दैवकरणि का कथन है कि 'ऋषि मुद्रण प्रति को मूल प्रति से अक्षरशः नहीं मिला सके।' श्री दैवकरणि तो विद्वान् हैं, अनेक पुस्तकें आप के द्वारा लिखकर मुद्रित करवायी गयी होंगी, परन्तु फिर भी हम साहस करके कहना चाहेंगे कि अपवाद को अगर छोड़ दिया जावे तो किसी भी लेखक की मूल पाण्डुलिपि और प्रेस पाण्डुलिपि और पुनः मुद्रित ग्रन्थ अक्षरशः नहीं मिलते। **यह आवश्यक है ही नहीं**। प्रेस प्रति करते समय तक ही नहीं प्रूफ रीडिंग तक लेखकों द्वारा अपनी रचनाओं में भाषा, वाक्य विन्यास आदि की दृष्टि से तथा आवश्यक नई जानकारी हो जाने पर तथ्यों की दृष्टि से भी संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन होते रहते हैं। यह सामान्य, स्वाभाविक प्रक्रिया है, इसी स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम परिवर्धित संस्करण होते हैं।

हां यह अवश्य है कि आज के सामान्य कोटि में आने वाले लेखक अन्य अनेकों ग्रन्थों का उद्धरण देते हैं, उन्हें उन उद्धरणों को सम्बन्धित मूल से अक्षरशः मिलान करना पड़ता है। यह अत्यावश्यक भी है। इसीलिये कह दिया जाता है कि मूल प्रति से अक्षरशः मिलान किया जाता है। देखा जावे तो उद्धरण, तथ्य तथा संख्या आदि को छोड़ दिया जावे तो प्रेस प्रति बनाते समय अथवा प्रूफ रीडिंग के समय उन्हें मूल प्रति से अक्षरशः मिलाने की आवश्यकता भी नहीं है मूल पर सरसरी दृष्टिपात् ही पर्याप्त है क्योंकि पूर्वापेक्षा, भाषा, वाक्य विन्यास आदि में परिवर्तन हेतु

लेखक स्वतन्त्र है क्योंकि यह उसकी स्वयं की रचना है। महर्षि दयानन्द जिस योग जन्य अप्रतिम मेधा के धनी थे उनके साथ ऐसी विवशता नहीं थी। यही कारण है कि उन्होंने प्रमाण पते भी स्मृति बल से लिखाए थे **इससे पूरा प्रमाण पता न मिलकर अनेक स्थलों पर 'यह मनु का वचन है, यह शतपथ का वचन है** इत्यादि उल्लेख मिलते हैं।

महर्षि जी की विलक्षण प्रतिभा तथा आश्चर्यजनक क्षमता का एक ही उदाहरण पर्याप्त है कि उन्होंने अपने सिद्धांतों का निर्णय तीन हजार ग्रन्थों के निरीक्षण के पश्चात् निर्धारित किया। देखें 'क्योंकि मैं **अपने निश्चय और परीक्षा के** अनुसार,ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।' (भ्रन्ति निवारण पृ. १६८) क्या यह एक सामान्य विद्वान् के बस की बात है ?

एक लेखक रफ प्रति से प्रेस प्रति कर लेता है तो प्रेस प्रति मुद्रण हेतु भेज देने के पश्चात् रफ पाण्डुलिपि की उपयोगिता तभी होती है जब प्रूफ रीडिंग के समय उसे किसी पाठ पर सन्देह होता है इसके अतिरिक्त इसकी उपयोगिता नहीं रहती और पुस्तक छपने पर यही स्थिति प्रेस प्रति की होती है।

श्री विरजानन्द जी दैवकरणि ३७वें संस्करण में अपने वक्तव्य में लिखते हैं - 'इस ग्रन्थ में ऋषि दयानन्द सरस्वती के वाक्यों को ज्यों का त्यों रखा गया है।' ३८वें संस्करण में लिखते हैं -'इस संस्करण में महर्षि दयानन्द सरस्वती के एक-एक अक्षर का मिलान करके उनके वाक्यों को ज्यों का त्यों रखा गया है।'

यहां दैवकरणि जी का कर्त्तव्य था कि वे उन कसौटियों का वर्णन करते जिनके आधार पर उन्होंने यह पहचान की कि अमुक अक्षर/वाक्य महर्षि जी का है और अमुक नहीं और इसके साथ कतिपय उदाहरण देकर अपनी स्वीकरण तथा अस्वीकरण कला का प्रदर्शन करते, जिसका परिज्ञान आरम्भिक काल में अनुसंधानात्मक कार्य करते हुए भी पं. लेखराम जी एवं पं. भगवद्दत्त जी जैसे महारथियों को नहीं हो पाया। आपने पुनः परोपकारी मासिक अप्रैल १६६५ में लिख दिया - '३७वें संस्करण में जो पाठ हैं वह ऋषि दयानन्द जी का लिखवाया हुआ तथा उनके अपने हाथ से बढ़ाया या संशोधित पाठ ही रखा है।' पुनः परोपकारी जून १६६५ में यही बात दोहरा दी '३७वें संस्करण में ऋषि का बोला, या साक्षात् उन द्वारा बढ़ाया गया पाठ कोई नहीं छोड़ा गया है, और न ही अपनी ओर से कुछ मिलाया है।'

विगत् १३ वर्षों से दैवकरणि जी यही कह लिख रहे हैं पर उन्होंने यह कैसे निश्चित किया कि ऋषि ने क्या बोला? यह कभी नहीं बताया। पाठकगण, विचार करें कि कोई भी लेख ऋषि का है इसका निश्चय कैसे हो? महर्षि का बोला टेप रिकॉर्डेड तो हुआ नहीं जो निश्चित हो सके। महर्षि ने प्रायः सारे ग्रन्थ यहां तक कि पत्र-विज्ञापन आदि भी बोल कर लिखवाए थे। इस बात का क्या प्रमाण है कि ऋषि ने जो बोला वही लेखक ने लिखा? इसका सम्भव उत्तर एक ही हो सकता है और है पर अपनी धारणा को थोपने के पूर्वाग्रही श्री दैवकरणि जी उसे सामने नहीं लाना चाहते।

आज शॉर्टहैण्ड और कम्प्यूटर टाइपिंग का जमाना है। व्यस्त सज्जन स्टेनो टाइपिस्ट को पत्रादि बोलकर डिक्टेट कराते हैं। वह उसे टाइप करके लेखक को देता है। लेखक को अपना अभिप्राय तथा अपना कथन ज्ञात होता है अतः तद्नुसार न होकर कुछ गलतियां होने पर वह शुद्ध कर देता है तथा पुनः टाइप होने पर पुनः ठीक होने पर अपने हस्ताक्षर कर देता है। यहां प्रश्न यह नहीं उठता कि उसने क्या बोला? टाइपिस्ट ने क्या टाइप किया? एकाध शब्दों का फर्क भी हो सकता है **पर पत्र में जो लेख है उसकी प्रामाणिकता उसके नीचे लेखक के हस्ताक्षर होने से है।** हमें खाद्य विश्लेषण विशेषज्ञ के रुप में माननीय न्यायालयों में जाना पड़ता है। हमारा बोला हुआ बयान टाइपिस्ट द्वारा टाइप किया जाता है। नीचे हमारे हस्ताक्षर होने पर वह हमारा ही प्रामाणिक बयान माना जाता है।

ऋषि के पत्र व विज्ञापन आदि भी विभिन्न हस्त लेखों में होने पर भी ऋषि के इसलिये माने जाते हैं क्योंकि वे उनके द्वारा हस्ताक्षरित हैं। इनमें ऋषि के स्वयं के द्वारा कतिपय संशोधनों का पाया जाना इनकी प्रामाणिकता में वृद्धि कर देता है क्योंकि इन संशोधनों से यह सिद्ध होता है कि ऋषि ने उसे अच्छी प्रकार पढ़ भी लिया था। **ठीक इसी प्रकार प्रेस प्रति पाण्डुलिपि पर १३वें समुल्लास तक महर्षि के हाथ का संशोधन होना इस बात का प्रमाण है कि ऋषि को प्रेस प्रति कम से कम १३वें समुल्लास तक तो मान्य ही थी। किसी भी लेखक की भांति ऋषि ने भी स्वनिरीक्षित प्रेस प्रति को मूल प्रति पर अधिमान दिया था तभी छापने के लिये प्रेस प्रति के पन्ने भेजे थे न कि मूल प्रति के।**

आदरणीय दैवकरणि जी लिखते हैं कि महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा बोलकर लिखाई गई प्रति मूल प्रति मानी है। (परोपकारी, जून १९९५)। यहां हम दो प्रश्न पूछना चाहेंगे। प्रथम तो यह कि महर्षि जी द्वारा बोले गये को जिन विभिन्न लेखकों ने कलमबद्ध किया, उन्होंने वही लिखा जो महर्षि जी ने बोला, उनकी इस ईमानदारी का क्या प्रमाण है? जबकि श्री दैवकरणि जी ने अन्यत्र महर्षि जी के लेखक पण्डितों को छद्म वेशी पौराणिक बताया है जो आजीविका के लिये ही ऋषि के पास रहते थे (जो कि किसी हद तक सच भी है)। **इसका उत्तर सिवाय इसके कुछ नहीं कि लिखे जाने के पश्चात् महर्षि जी के अवलोकन तथा संशोधन के कारण यह कार्य महर्षि सम्मत माना जाता है। यही कसौटी प्रेस प्रति के साथ भी लागू होती है।** द्वितीय ऐसा किस आधार पर माना जावे कि मूल प्रति के लेखक तो ईमानदार थे, उन्होंने वही लिखा जो ऋषि ने बोला, पर प्रेस प्रति का लेखक (प्रतिलिपिकार) बेइमान था, उसने मिलावट कर दी? **स्पष्टतः ऐसा कथन पूर्वाग्रह युक्त है, इसमें तार्किकता व सच्चाई का अभाव है।** ऋषि द्वारा संशोधित होना ही इसकी प्रामाणिकता है और शायद हममें से कोई यह कहने का साहस तो नहीं रखता होगा कि अपने कालजयी ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश की प्रेस प्रति को महर्षि जी ने रफ प्रति की अपेक्षा में लापरवाही के साथ संशोधित किया होगा। और यह भी एक सम्भावना हो सकती है कि प्रतिलिपिकार को महर्षि ने बीच-बीच में बोलकर परिवर्तन परिवर्द्धन कराया हो अथवा भाषा, वाक्य विन्यास परिवर्तन हेतु उसे अधिकृत कर दिया हो क्योंकि अन्ततोगत्वा तो वे ऋषि के स्वयं के द्वारा ही शोधी जानी थी। अगर आप कहें कि भाषा परिवर्तन का अधिकार ऋषि नहीं दे सकते थे तो हम आपका ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे कि वेद भाष्य की भाषा तो पंडित भीमसेन,

ज्वालादत्त आदि ही बनाते थे। जब प्रतिलिपिकार द्वारा बढ़ाई गई भाषा (जैसा श्री दैवकरणि मानते हैं) अनृषिकृत होने से ग्राह्य नहीं है तब तो ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका तथा वेदभाष्य की भाषा तो निश्चित रुप से पण्डितों द्वारा बनाई गयी है। वह क्यों कर ग्राह्य होगी? कतिपय प्रमाण -

पं. दयाराम (मैनेजर) को महर्षि द्वारा ६ मई १८८२ को लिखा पत्र - '... जितने पन्ने भीमसेन के पास भेजे थे, **उन सबकी भाषा बन चुकी या नहीं?**

मुंशी समर्थदान जी को लिखा ६ मई १८८३ का पत्र - ' ऋग्वेद के पन्ने १५७८ से लेकर १६६७ तक **पं. ज्वालादत्त को भाषा बनाने के लिये दे देना**।' अब बताऐं इनके बारे में क्या निर्णय होगा?

यह भी सत्य है कि महर्षि इन पण्डितों के द्वारा बनाई भाषा से प्रसन्न नहीं थे। अनेक पत्रों में यह भाव प्रकट है। पं. भीमसेन को बकवृत्ति वाला व मार्जारलिंगी भी कहा। तथा जब अति हो गयी तो सेवामुक्त भी कर दिया। पर काम तो इन्हीं से लेना था। **अतएव यही कर सकते थे कि शोधन कार्य स्वयं करें। सो वे करते थे**। अतिरिक्त सतर्कता के लिये उन्होंने मुंशी समर्थदान के लिये लिखा ...'इसलिये जो कुछ वो बनावे (ज्वालादत्त) उसको समर्थदान देख लेवें।' (बाबू विश्वेश्वर सिंह जी को महर्षि द्वारा लिखा गया दिनांक ३० जून १८८३ का पत्र (पत्र विज्ञा. पृ. ७२६)

अब आदरणीय दैवकरणि जी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका तथा वेद भाष्य की भाषा को अपनी पूर्व कसौटी के अनुसार अप्रामाणिक मानेंगे पर हमारा निवेदन यही रहेगा कि जहां-जहां तक यह भाषा ऋषि द्वारा शोधी गयी है वहां तक प्रामाणिक है विशेष रुप से तब जबकि भाषा के पन्ने के पश्चात् प्रूफ तक ऋषि के पास शोधने हेतु जाते थे इस प्रकार दो-दो बार ऋषि को निरीक्षण का अवसर था। देखें- 'और बाबू साहब (हरिशचन्द्र जी चिन्तामणि) से कह दो कि **जब वेद का प्रूफ भेजा करें**...।' (दिल्ली से ७ अक्टूबर १८७८ को श्याम जी कृष्ण वर्मा के नाम लिखा पत्र (पत्र विज्ञा. भाग १ पृ. २१४) अन्य प्रमाण आगे उद्धृत हैं।

यही स्थिति सत्यार्थ प्रकाश के साथ है। जिस भाषा व वाक्य विन्यास को उपरोक्त प्रकार से महर्षि जी का अनुमोदन मिल गया उसमें अकारण सन्देह उचित नहीं। अर्थात् जब तक कोई प्रश्न चिन्ह, असंगति, अथवा सिद्धान्त विरोधी बात न दिखे, महर्षि द्वारा अनुमोदित होने के कारण मान्य होनी चाहिये चाहे वह अन्य पण्डितों की बनायी हो। देखिये स्वयं महर्षि जी का भी यही अभिप्राय था। समर्थदान जी ने पं. ज्वालादत्त के बारे में लिखा था कि वह भाषा ठीक नहीं बनाता। तो महर्षि ने बाबू विश्वेश्वर सिंह जी को लिखा - '... और समर्थदान ने लिखा है कि कुछ ज्वालादत्त नई भाषा बनाता है। **यदि वह हमारे संस्कृत और अभिप्राय के अनुकूल हो तो ठीक है**। (पत्र विज्ञा. पृ. ७२६, ३० जून १८८३)। '.......जो कहीं भाषा असंबद्ध हो और अभिप्राय अक्षर मात्रा आदि से अशुद्ध हो उसको तुम ही शोध लिया करो।' (मुंशी समर्थदान को १५ अक्टू. १८८२ को लिखा गया पत्र)।

इसी प्रकार प्रेस प्रति की भाषा तथा वाक्य विन्यास को लेकर विवाद करना व्यर्थ है विशेषतः तब जबकि प्रेस प्रति का पाठ महर्षि-सम्मत है, जब तक कि सिद्धान्त विरोधी बात न दिखे।

मूल पाण्डुलिपि (रफ कॉपी) को यथानुरुप छपवाना तो ऋषि को भी अभीष्ट न था। मूल पाण्डुलिपि में यथोचित संशोधन के पश्चात् उसकी जो प्रतिलिपि प्रतिलिपिकारों द्वारा की गई उसे **यथाभिमत शोधकर (शुद्ध करके)** ही महर्षि दयानन्द ने **मुंशी समर्थदान के पास भेजा था न कि पूर्व वाली रफ या मूल प्रति को**। इस दूसरी पाण्डुलिपि को ही प्रेस प्रति कहा गया है। पाठकगण इस बात को अपने ध्यान में बिठालें कि **महर्षि का आशय प्रेस प्रति को छपवाना ही था** जिसे कि उन्होंने मुंशी समर्थदान जी के पास क्रमशः छपने भेजा था। शुद्ध की हुई प्रति के पन्ने छपने हेतु समर्थदान जी के पास १६ अगस्त १८८२ से भेजने प्रारम्भ किये गये जो कि २६ सितम्बर १८८३ तक महर्षि द्वारा भेजे जाते रहे।

प्रमाण - महर्षि जी का समर्थदान जी के नाम **१९ अगस्त १८८२ का लिखा पत्र** -

"आज सत्यार्थ प्रकाश **(शुद्ध करके)** ५ पृष्ठ भूमिका के, और ३२ पृष्ठ प्रथम समुल्लास के भेजे हैं; पहुचेंगे।"

(पत्र-व्यवहार, भाग २, पृ. ६०६)

यहां स्पष्ट है कि १६ अगस्त १८८२ को अर्थात् भाद्रपद बदि १ सं. १६३६ को ऋषि ने संशोधित सत्यार्थ प्रकाश की शुद्ध प्रति के ३७ पृ. मुंशी जी को मुद्रणार्थ भेजे। अब एक प्रश्न उठता है कि भूमिका पर भाद्रपद शुक्ल पक्ष संवत् १६ ३६ लिखा है। जो निश्चित रुप से इन पत्रों (सत्यार्थ प्रकाश के पृष्ठों) के भेजे जाने के बाद की तिथि है। यह कैसे सम्भव हुआ? इसका समाधान मनीषीवर्य पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने प्रस्तुत किया कि सत्यार्थ प्रकाश की प्रेस कॉपी पर 'भाद्रपद संवत् १६३६' ही लिखा है। स्पष्ट है कि 'पक्ष' का स्थल ऋषि ने रिक्त छोड़ दिया था जो स्वाभाविक रुप से मुंशी जी द्वारा रिक्त स्थान पर 'शुक्ल पक्ष' छाप कर पूरा किया गया। इससे यह भी तात्पर्य निकलता है कि भूमिका व प्रथम समुल्लास के ३३ पृ. ऋषि द्वारा भाद्रपद बदि १ को प्रेषित किये गये पर गन्तव्य तक पहुंचने तथा छापने की योजना बनाते तक शुक्ल पक्ष आ गया अतः समर्थदान जी ने उक्त वर्णित रिक्त पद पर शुक्ल पक्ष रख दिया।

महर्षि छपने के लिये द्वितीय पाण्डुलिपि की शुद्ध प्रति ही भेजते थे - लेखन के क्षेत्र में यह स्वाभाविक प्रक्रिया है कि मुद्रणार्थ 'प्रेस प्रति' ही प्रेषित की जाती है। फिर इस बात के पर्याप्त प्रमाण भी हैं कि महर्षि छपने हेतु शुद्ध प्रति (प्रेस प्रति) भेजते थे **न कि मूल प्रति (रफ प्रति)**।

(१) ऊपर जिस १६ अगस्त १८८२ के पत्र का जिक्र किया है उसमें 'शुद्ध करके' लिखा है। इसका अभिप्राय मुद्रण योग्य प्रति से ही है।

द्रष्टव्य- सत्यार्थ प्रकाश के पन्ने मुद्रण हेतु जो भेजे जाते थे उनके लिये अनेक स्थलों पर 'शुद्ध करके' या 'शुद्ध प्रति' प्रयोग किया गया है। स्पष्टतः यहाँ प्रेसप्रति के पत्रों से ही तात्पर्य है। फिर भी स्वामी जी के शिष्य ब्र. रामानन्द जी जो ऋषि के साथ अन्तिम वर्षों में रहे थे उनके एक विवरण से जो उन्होंने परोपकारणी सभा के माँगने पर महर्षि के ग्रन्थों के संबन्ध में प्रस्तुत किया था यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। यह विवरण जो वेदभाष्य के संबंध में था, २८ दिसम्बर १८८३ को सभा के प्रथम अधिवेशन में पढ़ा गया। इसमें स्पष्ट

किया है - 'विशेष- इस पत्र में ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य के कुछ भागों के लिये 'अशुद्ध संस्कृत' शब्द का प्रयोग हुआ है उसका तात्पर्य रफ कापी से है अर्थात् उस भाग की फेयर कापी - मुद्रण योग्य प्रतिलिपि तैयार नहीं हुयी थी।' इससे तथा इस विवरण को पूरा पढ़ने से स्पष्ट होता है कि शुद्ध प्रति का प्रयोग **'मुद्रण योग्य प्रति'** के लिये समझना चाहिये। अधिक जानकारी के लिये पाठकगण रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन भाग २ के पृ. ६४१ से ६४३ तक पढ़ें।

(२) महर्षि जी ने १७ सितम्बर १८८३ को जो पत्र मुंशी समर्थदान को भेजा था उसमें अन्य महत्त्वपूर्ण बातों के अतिरिक्त लिखा था -**'पृष्ठ २७२ से लेकर ३१९ तक १२ समुल्लास सत्यार्थ प्रकाश का छापने के लिए भेजते हैं।** (पत्र और विज्ञापन भाग २ पृ. ७८६-७८७) अर्थात् १२वें समुल्लास के जो पत्रे महर्षि जी ने छपने के लिये मुंशी जी को प्रेषित किये थे उन पर **पृष्ठ क्रमांक २७२ से ३१९ अंकित थे।**

(३) २६ सितम्बर १८८३ को महर्षि जी ने मुंशी समर्थदान जी को एक पत्र प्रेषित किया जिसके साथ सत्यार्थ प्रकाश के ३२० से ३४४ तक के पन्ने छपने भेजे। 'एक भूमिका (अनुक्रमणिका) का पृष्ठ और **३२० से लेकर ३४४ तक तोरेत और जबूर का विषय सत्यार्थ प्रकाश का भेजते हैं, सम्भाल लेना'** (पत्र और विज्ञापन, भाग २ पृ. ८०६-८) अर्थात् उक्त पत्र के साथ सत्यार्थ प्रकाश के जो पत्रे स्वामी जी ने छपने भेजे वे तोरेत और जबूर विषय अर्थात् **१३वें समुल्लास** से सम्बन्धित थे और उन पर **पृष्ठ क्रमांक ३२० से ३४४ तक अंकित था।**

उपरोक्त दोनों उदाहरणों में अंकित पृष्ठ संख्या का मिलान अगर हम सम्बन्धित समुल्लास पर मूल प्रति व प्रेस प्रति में अंकित पृष्ठ संख्या से करें तो एकदम स्पष्ट हो जावेगा कि महर्षि जी छपने हेतु मूल प्रति के पत्रे भेजते थे या प्रेस प्रति के? अनेक स्रोतों से (परोपकारिणी सभा सम्मिलित) बार-बार निवेदन करने पर भी क्योंकि हमें मूल तथा प्रेस प्रति की प्रतिलिपियां देने से इन्कार कर दिया गया अतएव पाठकों के समक्ष दोनों पाण्डुलिपियों से सम्बन्धित स्थल की फोटो कॉपी तो हम देने में असमर्थ हैं परन्तु मनीषीवर्य, अन्वेषण कला-निष्णात पूज्य पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा संकलित व प्रमाणित सामग्री का आधार ही पर्याप्त है।

पूज्य पं. जी ने अपने शोध ग्रन्थ 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास में पृ. ३०५, ३०६ पर सत्यार्थ प्रकाश की दोनों पाण्डुलिपियों का जो विवरण प्रस्तुत किया है जो पाठकों के लाभार्थ पूर्व में दिया जा चुका है, उसमें से हमारी उक्त धारणा को पुष्ट करने वाले सन्दर्भ निम्नांकित हैं-

मूल प्रति (रफ)	**संशोधित प्रेस कॉपी**
पृष्ठ संख्या	पृष्ठ संख्या
१२वां समुल्लास ५४३ से ६१७	१-३७५ तक (१ से १३ समुल्लास)
१३वां समुल्लास ६१८ से ७००	

उपरोक्त उदाहरणों में महर्षि जी द्वारा मुद्रणार्थ भेजे गये सत्यार्थ प्रकाश के पत्रों पर १२वें

समुल्लास के पृष्ठों पर २७२ से ३१६ पृष्ठ क्रमांक अंकित है जो **मूल प्रति (रफ प्रति) के कदापि नहीं हो सकते** क्योंकि उन पर ५४३ से ६१७ अंकित है। जबकि प्रेस प्रति में द्वादश समु. पृ. २८० से ३१८ तक होने के कारण ये पन्ने निश्चित ही प्रेस प्रति के हैं।

दूसरे में तौरेत व जबूर के विषय अर्थात् १३वें समुल्लास के कुछ पन्ने प्रेषित किये गये **वे भी निश्चित ही मूल पाण्डुलिपि के न होकर प्रेस प्रति के ही थे** क्योंकि उन पर पृ. सं. ३२० से ३४४ तक अंकित थी जबकि मूल प्रति में सम्बन्धित १३वें समुल्लास पर ६१८ से ७०० पृ. संख्या अंकित है। जबकि प्रेस प्रति में अनुभूमिका पर पृष्ठ ३१६ तथा १३वां समु. पर पृ.सं. ३२० से ३७५ अंकित है। एक और उदाहरण देखें-

महर्षि दयानन्द ने रामस्नेही मत के विषय में पीछे से लिखा था। अतः पृष्ठ संख्या में कुछ फर्क आ गया था। वे १ सितम्बर १८८३ के पत्र में मुंशी समर्थदान को लिखते हैं - 'आज यहाँ से २४८ से ले के २७८ तक सत्यार्थ प्रकाश ....भेजते हैं।' '.......प्रथम सत्यार्थ प्रकाश के पत्रे २५० तक तुम्हारे पास भेजे थे और तीन पृष्ठ रामसनेही के विषय के पश्चात् धरे हैं। सो ४८-४६-५० अंक घटे हैं। तुमको भ्रम न हो । परन्तु इतना अवश्य करना कि जो वहाँ २५० पृष्ठ है उसके अंत और २४८ पृष्ठ के आदि की संगति तुम मिला देना। और २५१ के पृष्ठ के और जो अब २५० का भेजा है उसकी सभी संगति मिला लेना।' (पत्र विज्ञापन पृ. ७७०)

उपरोक्त उदाहरण इसलिये दिया गया है ताकि पुनः यह प्रमाणित हो सके कि महर्षि जी ने छपने हेतु मुंशी समर्थदान को प्रेस प्रति के पृष्ठ भेजे थे। यहां वे लोग भी ध्यान दें जिनका मानना है कि स.प्र. किसी अन्य प्रति से छापा गया। रामसनेही का विषय ११वें समुल्लास में आता है यह निर्विवाद है। इसके पृष्ठों पर पृष्ठ संख्या २४८-२५० है। पूर्व में उद्धृत दोनों पाण्डुलिपियों के पृष्ठ संख्या देखें। मूल प्रति के ये पृष्ठ कदापि नहीं हो सकते क्योंकि मूल प्रति में ११वाँ समुल्लास ५४२ पर समाप्त है। ये प्रेस प्रति के पृष्ठ ही हैं। (यहाँ पृष्ठ संख्या में २-३ का अन्तर हो सकता है) क्योंकि इस पाण्डुलिपि में ११वां समु. पृ. १८५ से २७६ तक है।

अतः शीशे की भांति स्पष्ट है कि महर्षिवर सत्यार्थ प्रकाश के जो पन्ने छपने प्रेषित करते [illegible] **प्रेस प्रति के थे न कि मूल प्रति के**। अतः हमारा बलपूर्वक कथन है कि **मूल पाण्डुलिपि** [illegible] **छपवाना तो महर्षि को भी अभिप्रेत नहीं था**। अतएव मूल प्रति के आधार पर श्री [illegible]रणि जी का सत्यार्थ प्रकाश के ३७वें संस्करण को छपवाना **मूल की भूल है।** हां किसी अशुद्धि [illegible]ल में यह प्रति सहायक हो तो अवश्य सहायता लेनी चाहिये।

महर्षि को मूल (रफ) प्रति से छपवाना अभीष्ट होता तो वे उसके पन्ने ही मुद्रण हेतु भेजते। **महर्षि ने जिस प्रति को उठाकर ताक पर रख दिया उस 'रफ कापी' को उठाकर मूल मूल चिल्लाना निश्चित रुप से ऋषि के अभिप्राय के विरुद्ध है।**

'मूल प्रति' शब्द का प्रयोग साशय बार-बार किया गया है ताकि सत्यार्थ प्रकाश प्रेमी इसे मूल (original) मानकर अन्य को अस्वीकार कर दें। पर लेखन क्षेत्र में यह रफ प्रति होती है, प्रेस प्रति इसकी अपेक्षा ज्यादा मान्य तथा **अनेक 'त्रुटि-निवारण' की प्रक्रिया से गुजरने के बाद जो मुद्रित संस्करण होता है वह सर्वाधिक प्रामाणिक होता है।**

प्रेस प्रति भी शुद्ध करके ही भेजी जाती थी। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं जिनसे स्पष्ट होता है महर्षि जी मुद्रण हेतु ग्रन्थों की शुद्ध प्रति ही भेजा करते थे।

'......... जो हम प्रतिदिन एक फार्म के लिये **शुद्ध करके भेजा करें**......।' (महर्षि जी का मुंशी समर्थदान को दि. १८ सित.१८८२ का लिखा पत्र। (पत्र विज्ञा. पृ.६१४)

'......... और जो अधिक छापने की आवश्यकता हो (तो जो) **शुद्ध प्रति छापने के लिये यंत्रालय में उपस्थित हो** उस समय एक एक फार्म भी प्रतिदिन छप सकता है वा अधिक भी।' (उपरोक्त पत्र)। यहाँ एकदम स्पष्ट है कि मुद्रण कार्य शुद्ध प्रति से होता था।

(आख्यातिक के बारे में) - 'यहाँ शीघ्र उसको बनवा और **शुद्ध करके** तुम्हारे पास भेज देंगे।' (उपरोक्त पत्र)

'थोड़े दिनों के पश्चात् और सत्यार्थ प्रकाश के पत्रे **शुद्ध करके** भेज देंगे। तुम सत्यार्थ प्रकाश के छापने का आरम्भ कर दो। (उपरोक्त पत्र)

मुंशी समर्थदान महर्षि जी को अपने पत्र दिनांक २७ अगस्त १८८३ को लिखते हैं - 'संस्कार विधि **की साफ नकल करवा कर तैयार हो गयी हो तो भेज दीजिये।** (पत्र विज्ञा. भाग ४ पृ.४६३)

आदरणीय विद्वद्जन क्या इससे भी ज्यादा स्पष्ट प्रमाण हो सकता है कि न सिर्फ सत्यार्थ प्रकाश वरन् ऋषि के सभी ग्रन्थों के संदर्भ में प्रेस प्रति ही मुद्रण हेतु भेजी जाती थी और वह भी शुद्ध करके। इन स्पष्ट प्रमाणों के होते हुए भी **मूल मूल की रट लगाना सत्यार्थ प्रकाश प्रेमियों के साथ विश्वास घात है।** और अगर ऐसा ही है तो मूल प्रतियों के आधार पर महर्षि के अन्य ग्रन्थों पर कब कृपा होने जा रही है ? ... ऋ.भा.भू. की तो ६ या ७ प्रतियाँ हैं।

आर्य सज्जनों, अब तक यह भली प्रकार प्रमाणित हो गया है कि महर्षि जी को प्रेस प्रति छपवाना ही अभीष्ट थी। वे इसके पत्रों को भी शुद्ध करने के उपरान्त ही छपने भेजते थे। अगर उनको तनिक भी सन्देह होता कि इस प्रति में कुछ भी उनके मन्तव्यों के विरुद्ध है तो या तो उसे शुद्ध कर देते, और यदि यह अवगत होता कि व्यापक फेरबदल है तो प्रेस प्रति को अस्वीकार कर देते।

यहां यह भी स्पष्ट कर दूं कि पूरी प्रेस प्रति महर्षि दयानन्द ने एक बार में ही शोधी हो अर्थात् लगभग ४७३ पृष्ठ एक बार में ही शोधित किये हों ऐसा नहीं था। वे थोड़े-थोड़े पृष्ठ संशोधित कर अथवा पूर्व संशोधित का पुनर्निरीक्षण कर यन्त्रालय भेजते थे। कुछ प्रमाण जो उपलब्ध हैं उद्धृत हैं। - प्रमाण - 'जैसी जल्दी तुम चाहते हो ऐसा तो तब हो सके कि जब हम स्वयं छापेखाने में आकर तुमको शीघ्र शोध शोध दिया करें और तुम छापो। (१५ अक्टू. १८८२)। अन्य प्रमाणः

(१) सत्यार्थ प्रकाश भूमिका के ५ पृष्ठ ३२ पृ. प्रथम समुल्लास के शुद्ध करके भेजे।

(१६ अगस्त १८८२)

(२) कल तुम्हारे पास ३३ पृष्ठ से सत्यार्थ प्रकाश के पन्ने . . . भेजेंगे।

(१५ अक्टूबर १८८२)

(३) स. प्र. ३३ से ५७ पृष्ठ १६ अक्टूबर १८८२ को भेजे।

(४) 'आज यहां से २४८ से लेके २७८ तक सत्यार्थ प्रकाश . . . भेजे हैं।

(मुंशी समर्थदान के नाम महर्षि का १ सितम्बर १८८३ का पत्र)

(५) 'और ग्यारह समुल्लास की समाप्ति तक सब पन्ने भेज दिये हैं। (उपरोक्त)

(६) २७२ से लेके ३१६ तक १२ समुल्लास सत्यार्थ प्रकाश का छापने के लिये भेजते हैं।

(महर्षि जी का मुंशी समर्थदान जी के नाम १७ सितम्बर १८८३ का पत्र)

(७) 'और सत्यार्थ प्रकाश जो कि १३ समुल्लास ईसाइयों के विषय में है वह यहां से चले पूर्व (जोधपुर से) अथवा मसूदे पहुंचते समय भेज देंगे। (२४ सितम्बर १८८३ का पत्र)

(८) एक भूमिका (अनुभूमिका) का पृष्ठ और ३२० से लेके ३४४ तक तौरेत और जबूर का विषय सत्यार्थ प्रकाश का भेजते हैं। (२६ सित. १८८३ का पत्र मुंशी समर्थदान के नाम) (पत्र विज्ञा. पृ. ८०६)

इस प्रकार ऋषि अनुमानतः ३० से लेकर ५० पृष्ठ सत्यार्थ प्रकाश की प्रेस प्रति के संशोधित अथवा पुनर्निरीक्षित करते थे। स्वाभाविक है कि जितने कम पृष्ठ शोधे जायेंगे उतनी ही गलतियों की सम्भावना कम रहेगी। अतः महर्षि जी की अप्रतिम प्रतिभा को ध्यान में रखते हुए बलपूर्वक कहा जा सकता है कि **प्रेस प्रति में जो कुछ भी लिखा है वह निर्विवाद रुप से महर्षि सम्मत है उनके अभिप्राय के अनुकूल है वे उसी को छपाना चाहते थे।** हां दृष्टिदोष, oversight से रही भूलों की बात पृथक् है।

संस्करण २ की प्रामाणिकता

अब हमें यह देखना होगा कि शोधे हुए प्रेस प्रति के पत्रों से, ग्रन्थ यथावत छपे, अशुद्धि न रहे, अभिप्राय विरुद्ध कोई बात न आ जावे क्या ऋषि ने इसका भी कोई प्रबन्ध किया था? उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि इस हेतु महर्षि ने द्विस्तरीय शोधन व्यवस्था की थी। पहली मनीषी समर्थदान के अधीन तथा **दूसरी स्वयं के अधीन**। यहां यह स्पष्ट कर दें कि जैसा कुछ विद्वानों का मानना है कि महर्षि जी को सभी लेखक तथा कर्मचारी भ्रष्ट मिले थे जो उनके ग्रन्थों में मिलावट करने में प्रयासरत रहते थे, उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर इस सूची से मनीषी (मुंशी) समर्थदान का नाम अलग करना ही होगा। वे अत्यन्त विश्वस्त, योग्य, कर्त्तव्यनिष्ठ तथा सतर्क व्यक्ति थे। महर्षि जी को प्रिय थे तथा उन्हें ग्रन्थ में संशोधन, टिप्पणी आदि के कई अधिकार ऋषि ने प्रदत्त किये थे। (अत्यन्त आवश्यक जान, मुंशी समर्थदान के सम्बन्ध में पृथक् से, विस्तार में, प्रमाणों के साथ लिखेंगे)

परन्तु स्मरण रखें कि मुंशी समर्थदान जी को शोधन-अधिकार प्रदान कर, महर्षि दयानन्द निश्चिंत नहीं हो गये थे **अन्तिम संशोधन उन्होंने अपने अधीन रखा था। छपी हुई सामग्री**

जिसे फर्मा/फार्म/प्रूफ कहा जाता था (एक फार्म में ८ पृष्ठ होते हैं) तथा इन शब्दों का प्रयोग उस समय महर्षि द्वारा तथा मुद्रण से जुड़े अन्य व्यक्तियों द्वारा **छपे पृष्ठों के लिये ही किया जाता था** इसके अनेक प्रमाण हैं पर उनको यहां देना अनावश्यक तथा लेख का आकार बढ़ाना मात्र होगा अतः केवल एक उदाहरण दे रहे हैं:-

'जो तुम पत्र लिखते हो उसमें एक महीने में **इतने फार्म** फलाने-फलाने पुस्तक के **छपे** अवश्य लिखा करो। (मुंशी समर्थदान को महर्षि जी का पत्र २३ अगस्त १८८३ का (पत्र - विज्ञा. पृ. ७६६)

प्रूफ रीडिंग महर्षि दयानन्द द्वारा की जाती थी

प्रमाणः

(१) '५ भूमिका और सत्यार्थ प्रकाश के **फारम** भेजे थे सो पहुंच गये। परन्तु सत्यार्थ प्रकाश अक्षरों के **घिस जाने से अच्छा नहीं छपता।** (ऋषि का १६ दिसम्बर १८८२ का पत्र)

उपरोक्त उद्धरण से एकदम स्पष्ट है कि १६ अगस्त को महर्षि जी ने सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका तथा ३२ पृष्ठ जो छपने भेजे थे वे **छापकर प्रूफ रीडिंग के लिये मुंशी समर्थदान ने महर्षि जी के पास उदयपुर भेजे**। जिसकी पावती १६ दिसम्बर १८८२ को देते हुए ऋषि ने टाइप के घिस जाने से अच्छे न छपने की बात भी लिखी है।

(२) '.... और उन्हीं पत्रों को शोधा है कि जिससे **तुम्हारा कम्पोज सब व्यर्थ न जाए** किन्तु उसके बराबर सही करवाकर...।' १७ मार्च १८८३ के ऋषि के इस पत्र में उपरोक्त वाक्य इस बात का प्रबल प्रमाण है कि प्रूफ रीडिंग महर्षि दयानन्द के स्वयं के द्वारा की जाती थी।

(३) प्रत्येक छपे हुए को बराबर महर्षि जी के पास भेजा जाए ऐसे निर्देश थे। 'जो जो छपता जाय सो सो बराबर हमारे पास भेजते जाओ।' (मुंशी समर्थदान को लिखा महर्षि का १६ अगस्त १८८३ पत्र, पत्र विज्ञा. पृ.७६४)

(४) 'उदयपुर निवास में महर्षि की दिनचर्या -'.... पत्रों का उत्तर देते या **प्रूफ शोधते**।' {जीवन चरित्र द्वारा पं. लेखराम (कविराज श्यामलदास महामहोपाध्याय द्वारा वर्णित) पृ. ५५५}

(५) जोधपुर निवास के समय दिनचर्या -

'. . . फिर एक बजे सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि की कापियां **जो छपी हुई आतीं उनको शोधते थे** . . .।' जीवन चरित्र द्वारा पं. लेखराम पृ. ८३५

(६) वेदभाष्य आदि के सम्बन्ध में भी प्रूफ रीडिंग का कार्य महर्षि स्वयं करते थे 'और बाबू साहब (हरिशचन्द्र जी चिन्तामणि) से कह दो कि जब वेद का **प्रूफ भेजा करें** तो उसके साथ टाइटल पेज भी भेजा करें।' (दिल्ली से ७ अक्टूबर १८७८ को श्यामजी कृष्ण वर्मा के नाम लिखा पत्र) पत्र विज्ञा.भाग १ पृ. २१४।

(७) 'वेद भाष्य का **फर्मा** हमने देखा तुम भी मिलालो' (बख्तावर सिंह को १४ जून १८८० को लिखा पत्र, पत्र. विज्ञा. पूर्ण सं. २६२ पृ. ३३५)

(८) पं. सुन्दर लाल व रामनारायणजी के नाम ३० जून ७८ का पत्र 'हमने तारीख २५ मई को **एक प्रूफ शीट यहाँ** से बम्बई भेजा था सो आज तक नहीं पहुँचा, यह गफलत पोस्ट आफिस की है।' (पत्र व्यवहार - सम्पादक डॉ. धर्मवीर पृ.२१) यह भी देखें -मुंशी बख्तावर सिंह जी के नाम १४ जून १८८० का पत्र फर्रुखाबाद से लिखा - 'वेद भाष्य का फर्मा हमने देखा तुम भी मिला लो। बंबई के फर्मे से आधा अंगुल कम है सो जिल्द बांधने में कैसा होगा। और जड़ में आर्वल भी कम रहता है। इसलिये चारों ओर बराबर रहना चाहिये जैसा कि बंबई के छापे में।' (पत्र विज्ञा.- भाग १ पृ.३३६)

पत्र व्यवहार से यह भी स्पष्ट है कि **सत्यार्थ प्रकाश के पहले तेरह समुल्लासों के प्रूफ स्वयं ऋषिवर ने पढ़े और संशोधित किये थे**- पं. भगवद्दत्त जी (सत्यार्थ विमर्श - डॉ. राम प्रकाश, पृ. ४३ से उद्धृत) (नोट - हमारे विचार में ११वें समु. तक तो निश्चित रूपेण)।

ऊपर उद्धृत विवरण से स्पष्ट है कि १८७५ के कटु अनुभव के पश्चात् ऋषि दयानन्द ने हर सम्भव सतर्कता बरती कि किसी भी प्रकार उनके ग्रन्थों में मिलावट न हो पाए। फिर भी यदि हम कहें कि अन्य लोकोपकारक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण महर्षि जी को अवकाश नहीं मिलता था अतएव प्रतिलिपिकार व अन्य ने मिलावट की, यह ऋषि की तत्परता के प्रति अन्याय ही है। ऋषि की उपरोक्त कार्य पद्धति को देख **हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि जो परिवर्तन रफ प्रति से प्रेस प्रति में दिखायी पड़ते हैं वे ऋषि की दृष्टि में न आए हों ऐसा हो ही नहीं सकता। अतः प्रतिलिपि करते समय या तो स्वयं महर्षि के निर्देश पर ऐसा किया गया अथवा प्रतिलिपिकार पण्डित ने जो किया वह महर्षि को मान्य था।**

यही नहीं जो प्रेस प्रति ऋषि द्वारा संशोधित कर यन्त्रालय भेजी जाती थी वह कम्पोज कर उसका प्रूफ भी महर्षि दयानन्द द्वारा देखा जाता था तथा महर्षि के आदेश से पहले और पीछे दो बार मनीषी समर्थदान द्वारा भी देखा जाता था **अतः कोई कारण नहीं कि मुद्रित द्वितीय संस्करण को अप्रमाणिक और महर्षि के आशय के विपरीत माना जाए।** कतिपय अशुद्धियों के होने से सम्पूर्ण ग्रन्थ को अप्रामाणिक कहना विद्वता नहीं।

विशेष रुप से तब जबकि प्रमाण यह उपलब्ध है कि ग्यारह समुल्लास तक का मुद्रित द्वितीय संस्करण जोधपुर में महर्षि दयानन्द के पास था तथा उन्होंने इसका विक्रय भी किया। **अत्यन्त महत्त्वपूर्ण** - 'मैंने स्वामी जी से **नया सत्यार्थ प्रकाश** जो उस समय ३६६ पृष्ठ तक छप गया था। ठाकुर गिरधारी सिंह जी रईस के लिये मोल लिया था और ५ रुपये इसका मूल्य था।' (द्रष्टव्य - पं. लेखराम जी रचित 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र (हिन्दी) पृ. ८३५, पं. ८, ९, प्रकाशक आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट (सं. २०४६)।

विचार बिन्दु

सत्यार्थ प्रकाश द्वितीय संस्करण में पृ. ३६४ पर ११वें समुल्लासान्तर्गत गोकुलिये गुसाईं एवं वल्लभ सम्प्रदाय मत समीक्षा है। ग्यारहवां समुल्लास ३६२ पृष्ठ पर समाप्त होता है। बहुत सम्भव है यहां ३६२ के स्थान पर ३६४ उल्लिखित हो गया हो। क्योंकि एक फार्म ८ पृष्ठ का होता है ३६४ की संख्या में पूर्ण फार्म का हिसाब नहीं बैठता जबकि ३६२ में ४६ फार्म पूरे-पूरे हो जाते

हैं तथा यह भी उचित प्रतीत होता है कि ग्यारह समुल्लास पूर्ण होने पर ही जिल्द जैसी कोई व्यवस्था कर ऋषि के पास भेजी गयी हो। जो भी हो उपरोक्त उद्धरण से **यह तो प्रमाणित है कि द्वितीय संस्करण ३६४ पृष्ठ तक तो निर्विवाद रुप से महर्षि दयानन्द के पास था।** जहां तक इसे ५ रु. में बेचने की बात है जबकि सं.२ का अंकित मूल्य २.५० रु. था। यह स्वाभाविक है क्योंकि ग्रन्थ अधूरा था अतः तब तक कीमत तय न थी परन्तु खरीददार ने अत्यन्त आग्रह करके स्वेच्छा से ५ रु. दिये होंगे। जिन ठाकुर गिरधारी सिंह जी रईस के लिये यह लिया गया था अनुमान है कि वे जोधपुर समीपस्थ ग्राम रोबट के जागीरदार थे। अपनी जोधपुर यात्रा में दिनांक २८ मई १८८३ को स्वामी जी पाली से चलकर यहां पहुंचे थे। इन जागीरदार साहब ने न सिर्फ आवास, रसोई आदि का प्रबन्ध किया वरन् स्वामी जी के उपदेश से प्रभावित हो कुछ पुस्तकें भी क्रय कीं।

यह भी प्रतीत होता है कि यह ११ समुल्लास तक का सत्यार्थ प्रकाश २० अगस्त के पश्चात् ही विक्रय किया गया होगा क्योंकि २० अगस्त तक सत्यार्थ प्रकाश द्वितीय संस्करण के ३०४ पृष्ठ ही छपे थे।

यहां कुछ पाठक यह विचार कर सकते हैं कि अधूरा ग्रन्थ स्वामी जी ने बेचा था? क्या यह सही है? हम उन मित्रों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे कि जब सत्यार्थ प्रकाश का प्रथम संस्करण छप रहा था तब भी महर्षि जी ने अपूर्ण सत्यार्थ प्रकाश (१२० पृष्ठ का) १ रु. में विक्रय किया था। देखें - '... और आपके पुत्र के हाथ ४ पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश के १२० पृष्ठ तक छप गये हैं, सो आपके पास भेजे हैं, पहुंचे कि नहीं? १ आपके वास्ते, १ भोलानाथ जी के वास्ते, १ महीपति राम जी के वास्ते, १ वेचर भाई के वास्ते। जो न पहुंचे हों तो पत्र भेजकर मंगा लीजिए। .... और सत्यार्थ प्रकाश का भाग अभी तक एक-एक रुपये मिलता है। सो जितना मंगाना होय मंगा लीजिए।' (श्रीयुत् गोपालराव हरि देशमुख, जज अहमदाबाद को स्वामी जी ने २२ फरवरी १८७५ को लिखा था।) (पत्र-विज्ञापन भाग १ पृ. ५२-५३)

नोटः प्रथम संस्करण में १२० पृष्ठ पर चौथा समुल्लास चल रहा है तथा चौथा समुल्लास पृ. १५३ पर समाप्त होता है।

यहां पूर्वाग्रही जन कह सकते हैं कि जब प्रथम संस्करण भी महर्षि के पास उपलब्ध था तब भी उसमें मिलावट पायी गयी तो द्वितीय संस्करण ११वे समुल्लास तक महर्षि के पास छपा हुआ था, उसमें मिलावट की सम्भावना क्यों नहीं हो सकती?

उत्तर में नम्र निवेदन है कि उसका महत्त्वपूर्ण कारण है ऋषि को प्रथम संस्करण के समय इस बात का लेशमात्र भी अनुमान न था कि उनके ग्रन्थ में कोई मिलावट भी कर सकता है। दूसरे प्रथम संस्करण छपने तथा द्वितीय संस्करण की परिस्थितियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था जिसका पूर्व में वर्णन कर चुके हैं यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है। द्वितीय संस्करण के मुद्रण में ऋषि ने जो अभूतपूर्व सावधानियां बरती उन्हें भी ध्यान में रखें। **यहां यह भी स्मरण रखें कि गवेषक विद्वानों का मत है कि प्रथम संस्करण में प्रक्षिप्त भाग बाद में डाला गया था।**

इस प्रकार ऊपर उद्धृत प्रमाणों के प्रकाश में यह बिल्कुल स्पष्ट है कि **मुद्रित संस्करण दो** (कम से कम ११वें समुल्लास तक, छपा हुआ भी महर्षि के स्वयं के द्वारा अवलोकन के कारण और १३वें समुल्लास तक महर्षि स्वयं के द्वारा संशोधित मुद्रण प्रति के आधार पर होने के कारण) ही **पूर्णतः प्रामाणिक है तथा महर्षि के अभिप्राय के अनुकूल है**।

द्वितीय संस्करण को प्रेस प्रति पर भी वरीयता देनी चाहिये ऐसी हमारी तुच्छ सम्मति है। कारण कि प्रेस प्रति से कम्पोज होने पर उसका प्रूफ महर्षि जी के पास संशोधन हेतु जाता था यह प्रमाणित है। यह तो हो नहीं सकता कि प्रथम कम्पोज में कोई अशुद्धि न हो। अतः प्रूफ की ये अशुद्धियां ऋषि द्वारा संशोधित की गई होंगीं। ऐसे संशोधित प्रूफ पत्रों का अभाव है पर यह निष्कर्ष तार्किक है कि हस्तलेख व मुद्रित संस्करण दो में जो कहीं-कहीं पाठ भिन्नता है वह कम्पोज किये हुए प्रूफों को महर्षि जी द्वारा संशोधित किए जाने के कारण है। प्रूफ स्तर पर लेखक द्वारा परिवर्तन किये जाना अस्वाभाविक नहीं है। हमने इस आलेख के प्रथम व द्वितीय प्रूफ रीडिंग तक भी परिवर्तन परिवर्धन आदि किए हैं। 'सत्यार्थ विमर्श' के उद्धरण प्रूफ रीडिंग के समय जोड़े हैं। **प्रूफ रीडिंग के समय ऋषि ने भी संशोधन किए थे।** एक उदाहरण देखें - पं. भगवद्दत्त जी के संस्करण के अनुसार हस्तलेख में 'चमेली, पीपल, बड़ आदि वृक्ष नाम वाली' (किस नाम वाली स्त्री से विवाह न करे - इस प्रकरण में) है जबकि द्वितीय संस्करण में चंपा, चमेली आदि वृक्ष नाम वाली (सं.२, पृ. ८० पं. २१) है। स्पष्ट है कि हस्तलेख के पीपल, बड़ को प्रूफ रीडिंग के समय महर्षि ने हटा दिया जो कि उचित भी है क्योंकि पीपल, बड़ तो किसी स्त्री के नाम होते नहीं।

जहां तक द्वितीय संस्करण का प्रश्न है उसमें भले ही दृष्टिदोष के कारण अशुद्धियां रह गई हों पर सिद्धान्त विरोधी एक भी बात नहीं मिलती (मुद्रण भूल से हुई अशुद्धियों को छोड़कर) तब यह कैसे कहा जा सकता है कि महर्षि जी के कपटी लेखकों ने पाठान्तर कर दिये? जब विचार ही परिवर्तित नहीं किए (जैसा कि सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण में किया था) तो फिर तथाकथित पाठान्तर करने वालों का उद्देश्य क्या था? अतएव द्वितीय संस्करण के संदर्भ में लेखकों पर आरोप लगाना उचित नहीं।

द्वितीय संस्करण में रह गयी त्रुटियों/समस्याओं के संदर्भ में हमारा निवेदन है कि ईक्ष्यवाचन (प्रूफ रीडिंग) एक कला है। विद्वान् होना पृथक् बात है, प्रूफ रीडिंग में निष्णात् होना पृथक् बात है। प्रूफ रीडिंग में परिपक्वता अभ्यास से आती है। आज भी केवल कुछ ही नाम अपनी ईक्ष्यवाचन सिद्धहस्तता के लिये जाने जाते हैं जैसे पू. स्वामी जगदीश्वरानन्द जी। फिर भी उनके ग्रन्थों में भी एकाध अशुद्धि मिल जाना अस्वाभाविक नहीं है। हमारे इस लेख में अनेक प्रयासों के उपरान्त भी अनेक अशुद्धियां रह गयी होंगी यह निश्चित है।

महर्षि दयानन्द अद्वितीय विद्वान् थे यह निर्विवाद है। पर प्रूफ रीडिंग का उन्हें विशेष अभ्यास/अनुभव न था। यही स्थिति महर्षि जी के पण्डितों की थी। मुंशी समर्थदान जी तो स्वयं लिखते हैं- 'भाषा मुझे देखने के लिये आपने लिखा सो ठीक है **परन्तु शोधने में मेरी भी तो दृष्टि कच्ची है क्योंकि दीर्घकाल तक काम किये बिना दृष्टि कदापि नहीं जमती है**

और दूसरे मैं करुं भी तो मुझ को समय नहीं मिलता। मुझे निज का काम भी बहुत है। प्रूफ शोधना स्थिर चित्त का है मुझे एक न एक झगड़ा लगा ही रहता है। यह काम ज्वालादत्त ही का है उन्हीं को सावधानी से देखना चाहिये।.....।' मुंशी समर्थदान जी का महर्षि जी को दिनांक २७.०८.८३ का लिखा पत्र। (पत्र विज्ञा. भाग ४ पृ. ४६३)।

अशुद्धियों के संदर्भ में द्वितीय संस्करण का मूल्यांकन करते समय उपरोक्त तथ्य अवश्यमेव ध्यान में रखने चाहिये। यही, रह गयी अशुद्धियों का मुख्य कारण है।

विद्वद्जनों की सम्मति – आर्यजगत् के प्रायः सभी मूर्धन्य स्वनाम धन्य विद्वान् जिनमें पं. लेखराम जी, पं. भगवद्दत्त जी, स्वामी वेदानन्द जी, पं. ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक, आचार्य उदयवीर शास्त्री जैसे विद्वानों के नाम सम्मिलित हैं मुद्रित द्वितीय संस्करण को ही प्रामाणिक मानते थे। परोपकारिणी सभा के ३६ संस्करण जो १०० वर्ष से अधिक की अवधि में छपे, यद्यपि उनमें सम्पादकों के द्वारा यत्र तत्र कतिपय संशोधन किए गये हैं, मूलतः द्वितीय संस्करण को ही प्रामाणिक मान कर छपे थे। स्वयं दैवकरणि जी भी तो यही मानते हैं कि वे ही प्रथम विद्वान् हैं जिन्होंने संस्करण दो का प्रामाण्य स्वीकार न कर हस्तलेखों के आधार पर अपना शोधकार्य कर शुद्धतम सत्यार्थ प्रकाश प्रस्तुत किया है, इसी से द्योतित है कि **उनके पूर्ववर्ती सभी विद्वान् संस्करण २ को ही प्रमाण मानते थे।** हमने ऊपर भलीभांति सिद्ध कर दिया है कि ये विद्वान् ही सही थे। आदरणीय दैवकरणि जी का पक्ष सही नहीं है।

द्वितीय संस्करण के बारे में कुछ विद्वानों के विचार-

('फोटोप्रिन्ट- आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट' के प्रकाशकीय से)

(अ) **मेरा अटल विश्वास है कि सत्यार्थ प्रकाश का द्वितीय संस्करण ही प्रामाणिक है** उसमें कुछ मात्रा आदि की अशुद्धि के सिवाय सिद्धान्त का कोई भेद नहीं है... **किसी प्रकार का भी परिवर्तन मूल में नहीं किया जाना चाहिए। कुछ अधिक किया जाना हो तो टिप्पणी में दिया जाना चाहिए।**

पं. रामचन्द्र देहलवी, हापुड़

(ब) यह संस्करण (द्वितीय) ऋषि द्वारा संशोधित हुआ और उनके सामने ही छापने के कारण **सबसे अधिक प्रामाणिक है।**

आचार्य प्रियव्रत, वेद वाचस्पति

(स) **महर्षि के जीवन काल में छपा यही (द्वितीय) संस्करण प्रामाणिक है**...स्वेच्छा से संशोधन कर के सत्यार्थ प्रकाश को विकृत कर के प्रकाशित करने वालों पर इससे (द्वितीय संस्करण के फोटो प्रिन्ट के प्रकाशन से) रोक लगेगी।

प्रोफेसर सुखदेव, विद्या वाचस्पति

(द) किसी भी महान् व्यक्ति की कृति के मूल रुप में काट-छांट करना न केवल उसके प्रति घोर अन्याय है प्रत्युत यह घृणित, अनैतिक और लोक अपराध भी है। मतभेद या सम्मति भेद

कहीं पृथक स्थल पर दिया जाना ही उचित हो सकता है। - 'आर्य जनता से अनुरोध और आग्रह करता हूं कि **केवल द्वितीय संस्करण को ही मान्यता देकर महर्षि की इस सुकृति की कीर्ति को अमर बनायें।'**

प्रोफेसर रामसिंह, एम.ए.

मुंशी समर्थदान

यहीं पर एक बात का और विचार कर लेना चाहिये। कुछ विद्वानों की धारणा है, जैसा कि श्री दैवकरणि जी ने पथप्रदर्शिका मासिक (अक्टूबर-नवम्बर २००३) के पृ. १२-१३ पर छपे अपने लेख में लिखा है कि ... 'श्री अशोक आर्य को यह भी जान लेना चाहिये कि महर्षि दयानन्द सरस्वती के पास जो लेखक थे, वे छद्म पौराणिक थे, ऋषि के पास आजीविका हेतु रहते थे। ऋषि ग्रन्थों में सैंकड़ों स्थलों पर पाठ भेद जानबूझकर तथा आलस्य वश भी किए हैं ....।' यह किसी हद तक ही सत्य है, ऋषि के कई सहयोगियों ने ऋषि के साथ सत्य व्यवहार नहीं किया। अतः आवश्यक हो जाता है कि इस स्थल पर **मुंशी समर्थदान** के सम्बन्ध में विस्तार से विचार कर लिया जावे, क्योंकि सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि जैसे प्रमुख ग्रन्थ उन्हीं के प्रबन्ध में छपे थे। कुछ विद्वान् समर्थदान जी द्वारा सत्यार्थ प्रकाश में किए कतिपय संशोधन तथा टिप्पणी देने को उनकी अनधिकार चेष्टा मानते हैं अतएव हम उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करेंगे कि **मुंशी समर्थदान बहुत उच्च चरित्र के, कर्त्तव्यनिष्ठ, ऋषिभक्त, योग्य तथा सतर्क सज्जन थे, जिनको ऋषि ने संशोधन के, भाषा सुधारने के, नए शब्द डालने के तथा टिप्पणी देने के अधिकार दिये थे।** परन्तु उन्होंने इन अधिकारों का कभी दुरुपयोग नहीं किया। जब-जब जैसी-जैसी आज्ञा महर्षि जी से मिलती गयी तदनुरुप ही कार्य करते रहे। मुंशी जी की सतर्कता से ही वेदभाष्य तथा सत्यार्थ प्रकाश में भीषण असैद्धान्तिक प्रकरण छपने से बच गये। हमें तो केवल एक ही प्रकरण ऐसा प्रतीत हुआ जहां महर्षि जी मुंशी जी से थोड़ा नाराज हुए वह यह कि स्वामी जी से आज्ञा प्राप्त कर मुंशी जी ने वैदिक यन्त्रालय में बाहर का काम छापना प्रारम्भ कर दिया था पर जब इसके कारण महर्षि जी के अपने ग्रन्थ विशेषकर सत्यार्थ प्रकाश के छपने में विलम्ब होने लगा तो महर्षि जी के आदेश के बाद मुंशी जी ने बाहर की छपाई बन्द तो की पर कुछ देर से की। इसके अतिरिक्त सर्वत्र पदे-पदे ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि महर्षि दयानन्द समर्थदान जी की योग्यता व विश्वसनीयता, अनुशासन से अतीव प्रसन्न थे।

(१) महर्षि जी के किसी लेख से कुछ खिन्नता मुंशी जी को हुई होगी। जब ऋषि को जताया तो वे अपने शाहपुरा से प्रेषित १७ मार्च १८८३ के पत्र में लिखते हैं .... 'यदि तुम्हारे काम की पवित्रता की परीक्षा मुझको व सेवकलाल को न होती तो पुनः इस काम में तुमको नियुक्त ही क्यों करते? यदि तुम इस काम के योग्य न होते तो इतना बड़ा काम और जिसमें विशेष माल का काम है, स्वाधीन क्यों करते? तुमको हम व सेवकलाल, हरिश्चन्द्र, बख्तावर सिंह वा मुंशी इन्द्रमणि सरीखा नहीं समझते। तुमको उत्तम पुरुष समझते हैं ....।'

(२) 'क्योंकि आजकल वैदिक यन्त्रालय की दशा जब से समर्थदान आया है तब से अच्छा है।' बाबू दुर्गाप्रसाद जी को जोधपुर से २६ जु. १८८३ का लिखा महर्षि जी का पत्र (पत्र विज्ञापन पृ. ७४२)

(३) 'परन्तु मैं शोक करता हूं कि जिस काम में मुंशी समर्थदान अकेले रहते थे तब वसूल और तगादा भी होता था। और जब से पं. शिवदयाल और रामचन्द्र रखे हैं, तो भी तगादा और वसूल अच्छा नहीं होता . . . । '. . . .समर्थदान तो समझा ही हुआ है।' बाबू विश्वेश्वर जी को ३ सितम्बर १८८३ को लिखा पत्र (पत्र विज्ञापन पृ. ७७४)

(४) मुंशी समर्थदान जी से प्रसन्न हो ऋषि ने उन्हें एक प्रसन्नता पत्र दिया। जो किसी भी व्यक्ति के लिये जीवन की सबसे अमूल्य उपलब्धि कही जावेगी।

'विदित हो कि मुंशी समर्थदान मंगलदान जी के पुत्र ग्राम नेठवे के ताल्लुका रामगढ़ रियास्त सीकर राज जयपुर के रहने वाले हैं। इन्होंने बम्बई में हमारे वेदभाष्य कार्यालय का काम एक वर्ष तक बड़े प्रेम परिश्रम और चतुराई से किया। इनके काम देखने और ये हमारे पास भी कई दिन तक रहे। इससे हमने निश्चय किया है कि **यह पुरुष धार्मिक निष्कपटी, सच्चा उद्योगी परिश्रमी चतुर सभ्य सुशील और चाल चलन का बहुत ही अच्छा और श्रेष्ठ है।** इसलिये बहुत प्रसन्न होके लिखते हैं कि जो कोई महाशय इनको उन्नति देंगे तो हम बहुत प्रसन्न होंगे। और हमें पूरी आशा है कि इनके अधीन जो कार्य होगा, उसको ये अच्छी प्रकार पूर्ण करेंगे। हमने यह प्रसन्नता पत्र इनको बड़ी प्रसन्नतापूर्वक इसलिये दिया है किसी नये स्थान में ये जाएं तो अन्जान लोगों को भी इनके सद्गुण प्रकट हों।'

मिति वैशाख शुक्ल ६ — हस्ताक्षर

सं. १९३८। तारीख ४ मई सन् १८८१ — दयानन्द सरस्वती

स्थान जयपुर (राजपूताना)

(५) महर्षि जी को समर्थदान पर पूरा विश्वास था वे गुप्त बात भी उन पर प्रकट करने का आशय रखते थे। '.....जब उनमें से कोई भी बात सिद्ध हो जायेगी, वह **चाहे गुप्त हो वा प्रकट** परन्तु तुमको विदित कर देंगे।' (६ सितम्बर १८८२ का पत्र, पत्र विज्ञा. पृ. ६१३)

(६) मुंशी जी को संशोधन, भाषा निर्मिति तथा टिप्पणी देने के अधिकार -

- 'जहां-जहां उचित समझो वहां-वहां नोट दे देना।' (६ सितम्बर १८८२ का पत्र)
- 'तथा जो तुमको विचारपूर्वक नोट देना हो सो भी देते जाना।' (२ अक्टूबर १८८२ का पत्र) (पत्र विज्ञा. पृ. ६१६)
- 'जो कहीं **भाषा असम्बद्ध हो** और अभिप्राय व अक्षर मात्रा आदि से अशुद्ध हो उसको **तुम ही शोध लिया** करो।' (पत्र. विज्ञा. पृ. ६२०)
- 'सत्यार्थ प्रकाशादि किसी ग्रन्थ में जो नोट लिखो तो उसमें किसी का नाम न लिखना किन्तु **टाइटल पेज के ऊपर तो तुम्हारा नाम रहना ही चाहिये**, परन्तु ग्रन्थ के नोट पर न रहना चाहिये।

ज्ञातव्य – महर्षि जी द्वारा प्रदत्त अधिकार से समर्थदान जी ने टिप्पणी देकर इसके आगे 'समर्थ' ऐसा छाप दिया था (द्वितीय संस्करण पृ. २६)। जब **ये छपे फार्म** महर्षि के पास पहुंचे तो उन्होंने निर्देश दिये कि टिप्पणी पर नाम न दें। इस पर समर्थदान जी ने आज्ञानुसार नाम के ऊपर चिप्पी चिपका दी। और आगे जो टिप्पणी दीं उन पर नाम-निर्देश नहीं किया। ध्यान रखें उपरोक्त निर्देश में टिप्पणी देने के अधिकार से वंचित नहीं किया, केवल उस पर 'नाम न लिखें' इतना ही कहा गया।

- '. . . इसलिए जो कुछ वो बनावे (ज्वालादत्त) उसको समर्थदान देखले।' (यह अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में है ३० जून १८८३ का पत्र)
- 'सत्यार्थ प्रकाश में जो कोई ऐसा अनुचित शब्द हो निकालकर जो हमारे आशय से विरुद्ध न हो वह शब्द उसके स्थान में धरना और हम को लिख के सूचित करना कि यह शब्द धरे हैं।' (मुंशी समर्थदान को लिखा १६ अगस्त १८८३ का पत्र-पत्र-विज्ञा. पृ. ७६४) इसी पत्र के उत्तर में २८ अगस्त १८८३ को मुंशी जी ने महर्षि जी को लिखा – 'सत्यार्थ प्रकाश में शब्द बदलने की आपने आज्ञा दी सो मालूम हुआ। . . . जहां कहीं मैं शब्द बदलूंगा आपके आशय ही के अनुकूल बदलूंगा परन्तु कॉपी में गड़बड़ी बड़ी आती है। असम्बद्ध भाषा बहुत आती है। यह ध्यान रखके दोष निकालना चाहिये। हम यहां बनाते है तो बड़ी शंका रहती है। . . .'

इस प्रकार ऊपर पर्याप्त प्रमाण उद्धृत किये हैं कि मुंशी जी को महर्षि ने क्या-क्या अधिकार दिये थे। पर मुंशी जी ने कभी इन अधिकारों का दुरुपयोग किया हो ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। मुंशी समर्थदान की सतर्कता से महर्षि के ग्रन्थों में कई गलतियां समाविष्ट होने से रह गयीं। यजुर्वेद भाष्य के समय इसके १३वें अध्याय के ४७से ५२ तक के मंत्रों के सन्दर्भ में कुछ अस्पष्टता होने से मांस भक्षण का विधान आभासित होता था। इनका पुनर्शोधन मुंशी जी ने स्वामी जी से करवाया। पुनः महर्षि जी ने लिखा –'यदि शीघ्रता से शोधने में मांस खाने में कोई रह गया है तो उसको तुम कटवा देना और उचित धरवा देना। (१७ मार्च १८८३ का पत्र)

मुंशी जी अनुशासन के पक्के थे। आवश्यक होने पर महर्षि जी से पूंछ अक्षरशः उनके निर्देशानुसार ही करते थे। ११वें समुल्लास के अन्त के आर्य राजवंशावली के पत्रे भी कुछ भूल महसूस होने पर वापस ऋषि को भेजे। यह मुंशी जी की सतर्कता का द्योतक है।

मुंशी जी की सतर्कता का एक और उदाहरण यहां दे दें। सत्यार्थ प्रकाश दशम समुल्लास में भक्ष्या भक्ष्य प्रकरण में मांस खाने का विधान जैसा कुछ आ गया था (सुधी पाठक पूर्ण प्रकरण से परिचित होंगे यहां केवल संकेत है) तो मुंशी जी ने १३ जुलाई १८८२ (यहां सन् संभवतः अशुद्ध है) (पत्र विज्ञा. भाग ३ पृ. ४१३) को महर्षि जी को लिखा –'वेदभाष्य में जो मांस भक्षण का विधान आया था उसको तो आपने निकाल दिया और मुझको भी आज्ञा दी थी कि मांस का विधान न आवे इस प्रकार से छाप दो सो मैंने छाप दिया था। अब सत्यार्थ प्रकाश के भक्ष्या भक्ष्य का प्रकरण पाया इसमें भी आपने मांस खाने की आज्ञा स्पष्ट दी है। प्रथम जब पुस्तक लिखी गई थी तब तो मांस की आज्ञा नहीं दी, पीछे से शोधते समय आपने दी है **ऊपर से आपने बनाया है इससे**

मेरी शक्ति नहीं कि मैं इसको काट दूं इसलिये आपसे निवेदन किया अब जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा किया जाए।'

इस प्रकार मुंशी जी महर्षि की मान्यताओं से विपरीत प्रकरण को समाविष्ट होने से रोकने में कारक बने। जो विद्वान् सत्यार्थ प्रकाश को स्वमति-अनुसार सुधारने में लगे हैं वे ध्यान दें कि **उन्हें सत्यार्थ प्रकाश के लेखक ने इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं दिया परन्तु जिन समर्थदान जी को स्वयं ऋषि ने संशोधन-अधिकार दिया था वे भी महर्षि जी से भूल सुधार की आज्ञा लेकर ही बड़ा परिवर्तन करते हैं।** अतएव ऐसे विद्वान् जिनकी सम्पादकीय लेखनी तथा कैंची सत्यार्थ प्रकाश पर स्वतन्त्रतापूर्वक चल रही है, अपने कृत्य की अधिकारिता व नैतिकता पर विचार करें।

महर्षि जी के लेखन सहयोगियों पर आरोप लगाने से पूर्व इतना तो विचार करें कि उस समय उनके कार्यकलापों का निरीक्षण करने हेतु ऋषि जीवित थे परन्तु ऋषि के निधन के पश्चात् क्योंकि इन संशोधकों की कारस्तानी को देखने ऋषि तो हैं नहीं अतः क्या इनको मनमानी का अधिकार है? क्या कोई हमें बतायेगा कि ऋषि ने कब और कहां इन संशोधकों को संशोधन-अधिकार दिये थे? **हमारा निवेदन है कि अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन स्वयं के ग्रन्थों में करें। ऋषि-ग्रन्थ जैसे हैं वैसे रहने दें।**

यही मुंशी समर्थदान जी सत्यार्थ प्रकाश के प्रूफ को अन्त में भी देखते थे -

'सत्यार्थ प्रकाश का फार्म अन्त में एक बार देखता हूं। इसमें कोई भूल और दिख पड़ती तो निकाल देता हूं . . .।' मुंशी जी का २७/८/८३ का पत्र (पत्र विज्ञा. भाग ४ पृ. ४६३)। उपरोक्त विवरण के आधार पर हम निश्चित रुप से कह सकते हैं कि आदरणीय विद्वान् डॉ. भवानी लाल जी भारतीय ने सत्य लिखा है -'सत्यार्थ प्रकाश तथा संस्कार विधि के जो संस्करण मुंशी समर्थदान की देखरेख में छपे थे **वे प्रायः प्रामाणिक तथा निर्दोष छपे**। मुद्रण तथा लिपिका की भूलें तो अपवाद हैं। (परोपकारी - मई २००१)

विद्वद्वरेण्य पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने मुंशी मनीषी समर्थदान जी का जो मूल्यांकन किया है वह उन्हीं के शब्दों में उद्धृत है - 'ऋषि दयानन्द को अपने लेखन और मुद्रण कार्य में जितने लेखकों (लिपिकरों) वा मुद्रकों से पाला पड़ा, वे सब प्रायः दुर्जन थे। पं. भीमसेन, ज्वालादत्त, दिनेशराम, बख्तावर सिंह प्रभृति के चरित्र ऋषि के पत्रों से स्पष्ट हैं।. . . ऋषि को अन्तिम दिनों में मुंशी समर्थदान ही एक ऐसा सज्जन व्यक्ति मिला जो मनसा वाचा कर्मणा सर्वथा विशुद्ध और ऋषि दयानन्द का भक्त था। **यह विशेष सौभाग्य का विषय है कि ऋषि के महत्त्वपूर्ण पुनः संशोधित सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि ग्रन्थ मुंशी समर्थदान की देखरेख में छपे, जिससे पं. भीमसेन और ज्वालादत्त आदि कुछ भी कुटिलता न कर सके।** अन्यथा ये पुनः संशोधित सत्यार्थ प्रकाश और संस्कार विधि ग्रन्थ भी उस रुप में न छपते, जैसे आज छपे हुए उपलब्ध हैं। ये धूर्त लोग कहां पर क्या मिला देते, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः ऋषि के जो ग्रन्थ या ग्रन्थांश मुंशी समर्थदान के प्रबन्धकर्तृत्त्व में छपे वे **मुद्रण तथा लिपिकर की भूलों को छोड़ प्रायः प्रामाणिक हैं।**

मुंशी समर्थदान जी के बारे में इतने विस्तृत प्रमाणों के साथ इसलिये लिखा कि जिनकी सतर्क देखरेख में सत्यार्थ प्रकाश द्वितीय संस्करण छपा उनके चरित्र को पाठकगण जान लें तथा ये भी जान लें कि ऋषि ने उनको क्या-क्या अधिकार दिये थे और उन्होंने किस प्रकार उनकी अनुपालना की।

३७वें संस्करण में ऋषि आदेशों की अवहेलना:-

टिप्पणी देने के अधिकार के बारे में ऊपर लिखे अनुसार निश्चित रुप से कहा जा सकता है कि ऋषि अभिप्राय को सर्वांश में संरक्षित रखने का दावा करने वाले ३७वें संस्करण के सम्पादक श्री विरजानन्द जी दैवकरणि ने ३७वें संस्करण से समर्थदान जी की टिप्पणियों को हटा जहां उनके श्रम और निष्ठा का अवमूल्यन किया **वहीं महर्षि जी के आदेश की स्पष्ट अवहेलना की है**। इसी प्रकार ऐसे शब्द अथवा भाषा का शोधन समर्थदान जी द्वारा ऋषि प्रदत्त अधिकार के अन्तर्गत् किया हो सकता है जिनके बारे में समर्थदान जी ने ऋषि को जना भी दिया हो, इनकी पूर्ण उपेक्षा विरजानन्द जी के शोध में कर दी गई है।

महर्षि दयानन्द के एक और आदेश की किस प्रकार से उपेक्षा की गई है, पाठक इस पर भी विचार करें।

३७वें संस्करण में आर्य राजवंशावली जो छापी है, अनेक स्थानों पर द्वितीय संस्करण से भिन्न है। यह भिन्नता निम्न राजाओं के शासन काल के संदर्भ में है।

देवपाल, नरसिंहपाल, हरीपाल, गोविन्दप्रेम, महाबाहु, नारायण सेन, हरीसिंह, यशपाल। महाराज युधिष्ठिर से यशपाल पर्यन्त शासन काल भी इसी कारण भिन्न हो गया। सुल्तान शहाबुद्दीन के पश्चात् के काल में भी भिन्नता है। अपने को सर्व दायित्वों से ऊपर मानने के कारण श्री विरजानन्द जी से यह आशा करना कि वे इन भिन्न पाठों को स्वीकार करने के कारण तथा इनके आधार के बारे में बताते, व्यर्थ ही है पर उनके दावे के अनुरुप इन्हें रफ प्रति से उद्धृत माना जायेगा। हम पाठकों को स्मरण कराना चाहते हैं कि इस प्रकरण मे महर्षि जी ने समर्थदान जी को क्या आदेश दिये थे?

महर्षि दयानन्द ने मुंशी समर्थदान को ९सितम्बर १८८३ को लिखा था - ' और ग्यारह समुल्लास की समाप्ति तक सब पत्रे भेज दिये हैं।'

तत् पश्चात् मुंशी जी ने आर्य राज वंशावली से संबंधित पत्रे (प्रेस प्रति के) किन्हीं अशुद्धि के कारण महर्षि जी को वापस भेजे (महर्षि जी के आगे उद्धृत पत्र से यही विदित होता है)। इसके उत्तर में स्थिति स्पष्ट करते हुए जो आदेश अपने पत्र दि.१७ सितम्बर १८८३ में महर्षि जी ने दिया उसे ध्यान से पढ़ें - 'आर्य राज वंशावली के पत्रे तुमने भेजे, सो पहुंचे। उसी समय हम सत्यार्थ प्रकाश १२ समु. को भेजना चाहते थे। इसलिये शोध न सके। और तुम **इसका जोड़ मात्र शोध लेना। जो राजाओं के वर्ष मास दिन हैं, उनको वैसे ही रखना,** क्योंकि अन्य पुस्तकों से भी हमने इनको मिलाया है जो कि जोधपुर में एक मुंशी के पास और इसके साथ मोहन चन्द्रिका १९-२० किरण भेजते हैं, परन्तु वह भी अशुद्ध छपा है, **इसलिये नीचे ऊपर के जो**

जोड़ हैं वही शुद्ध कर लेना। आयु के वर्ष मास दिन वैसे ही रहने देना जैसे कि हैं......।' (पत्र विज्ञा. भाग २ पृ. ७८६-७८७)

विचारणीय बिन्दु

(१) यह स्पष्ट हो ही चुका है ये पत्रे जो महर्षि भेजा करते थे प्रेस प्रति के थे।

(२) समर्थदान द्वारा अशुद्ध (संभवतः) की तरफ ध्यान दिलाने पर भी ऋषि आदेश देते है कि राजाओं के वर्ष मास दिन वैसे ही रखने हैं। कारण भी बताते हैं। यह तो कोई स्वप्न में भी नहीं सोच सकता दुबारा शोधने हेतु पत्र आने पर भी ऋषि ने गलती की होगी। **अतः स्पष्ट है कि ३७वें संस्करण में राजाओं के वर्ष मास दिन में भिन्नता लाना महर्षि के आदेश की स्पष्ट अवहेलना है।**

श्री दैवकरणि जी के वक्तव्यों की परीक्षा

अब श्री दैवकरणि जी द्वारा ३७वें व ३८वें संस्करण के सम्पादकीय, परोपकारी अप्रैल, जून, तथा सितम्बर १९९५ के अंक जिनमें श्री दैवकरणि जी के तीन लेख हैं तथा पथ प्रदर्शिका (अक्टूबर-नवम्बर २००३ - भगवती लेजर प्रिन्ट) में प्रकाशित - 'श्री अशोक आर्य सहित समस्त आर्यजन व आर्य समाज बहुप्रचारित सत्यार्थ प्रकाश पर ध्यान दें।' में दिये गये वक्तव्यों पर विचार करना उचित रहेगा।

(१) 'इतने लम्बे अन्तराल में विभिन्न संशोधकों के हाथों इतने संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हो गये कि मूल पाठ का निश्चय करना कठिन होने लग गया था (३७वें संस्करण में श्री दैवकरणि जी का वक्तव्य)।'

निवेदन -

(अ) **यह एक भ्रामक अभिकथन है क्योंकि मूल पाठ का निश्चय करना कभी भी कठिन नहीं रहा।** क्योंकि सत्यार्थ प्रकाश का प्रामाणिक द्वितीय संस्करण, जैसा कि विस्तार के साथ ऊपर प्रमाणित किया जा चुका है सदैव उपलब्ध था। परम ऋषि भक्त आदरणीय दीपचन्द जी आर्य ने संस्करण २ का फोटो प्रिन्ट संस्करण छपवाकर इसे और सुलभ कर दिया। इस द्वितीय संस्करण से जो भी पाठ-भेद भिन्नता अन्य संस्करणों में पायी जाती है, वह निश्चित ही संशोधकों, पण्डितों की है **अतः यह नहीं कहा जा सकता कि मूल पाठ का निश्चय करना कठिन होने लगा।** हां इतना अवश्य है कि विभिन्न संस्करणों में द्वितीय संस्करण की तुलना में तथा परस्पर भी अनेक पाठ भेद पाये जाने के कारण सत्यार्थ प्रकाश प्रेमी दुखी अवश्य हैं। विभिन्न प्रकाशकों की बात तो जाने दें स्वयं परोपकारिणी सभा के द्वारा प्रकाशित ३६ संस्करणों में भी यह भिन्नता है। यह आश्चर्यजनक है क्योंकि ३६ संस्करण तक सभी संस्करण मोटे तौर पर दूसरे संस्करण को ही प्रमाण मानकर छपे थे। फिर क्या कारण थे कि महर्षि जी की स्थानापन्न सभा १०० वर्ष से भी ऊपर समय में सत्यार्थ प्रकाश का एक रुप पाठ निश्चित नहीं कर सकी? विद्वानों के पूर्वाग्रहों तथा अहं के अतिरिक्त इसका सर्वोपरि कारण यही प्रतीत होता है कि सभा के अधिकारियों के

परिवर्तन के साथ-साथ कसौटियां भी बदलती गयीं। (ऐसा क्यों लगता है आगे उसका कारण भी देंगे)।

(ब) ३७वां संस्करण भी परोपकारिणी सभा द्वारा ही प्रकाशित है। इस संस्करण के सम्पादक महोदय का उक्त आरोप सर्वाधिक इसी संस्था पर आता है। इसकी सफाई का दायित्व भी सभा का है। क्योंकि जो भी संशोधन हुए वे सभा की अनुमति से हुए।

(स) सत्यार्थ प्रकाश में १०० वर्ष से अधिक समय में हुए संशोधन निश्चित रुप से चिन्त्य हैं पर ये संशोधन इतने अधिक नहीं है कि ग्रन्थ का स्वरुप ही परिवर्तित हो जाए। पूज्य पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने अपने सम्पादकीय (स.प्र.रा.ला.क.ट्रस्ट) में एक स्वाध्याय प्रिय पं. वेदानन्द जी के सन्दर्भ से लिखा है कि द्वितीय संस्करण तथा ३४वें संस्करण में १०० पाठभेद हैं। इसके मुकाबले हमारे द्वारा इस लेख के साथ दिये गये **तुलन पत्र को पाठकगण देखें जहां एक प्रकरण मात्र में शताधिक पाठ भेद ही नहीं पैरा भेद हैं।** तब पूरे ग्रन्थ में कितने परिवर्तन होंगे अनुमान लगाया जा सकता है। (यदि जींद के पं. रतीराम जी के द्वारा सत्यार्थ प्रकाश पर किये कार्य को सत्य माना जावे तो यह सं. १०६४७ है) अतः **वास्तविक परिवर्तित संस्करण यदि कोई है तो वह है ३७वां संस्करण।** इस बात को स्वयं दैवकरणि जी स्वीकार करते हैं जब वे इससे पूर्व के सभी संस्करणों के लिये '**प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश**' प्रयोग करते हैं। (देखें पथ-प्रदर्शिका का लेख) **यह प्रयोग इस बात को द्योतित करता है कि परिवर्तित स्वरुप वाला सत्यार्थ प्रकाश तो वस्तुतः परोपकारिणी सभा का ३७वां संस्करण है, ऐसा श्री दैवकरणि जी स्वीकार करते हैं।**

(२) परोपकारिणी सभा से अतिरिक्त अन्य प्रकाशकों के पास यह सुविधा कभी नहीं रही कि वे **मूल प्रति** से मिलान करके सत्यार्थ प्रकाश का शुद्ध पाठ प्रकाशित कर सकें। (३७वें संस्करण में श्री दैवकरणि जी का वक्तव्य)

निवेदन -

(अ) मूल पाठ (रफ कापी) तथा प्रतिलिपि (मुद्रण प्रति) दोनों ही सभा के पास १६६१ में तो आयी नहीं वे तो सन् १८८३ से उपलब्ध थीं। तब से १०० वर्ष से भी अधिक व्यतीत होने पर, बड़े-बड़े योग्य सभा के अधिकारी होने पर, मूर्धन्य नामचीन विद्वानों द्वारा सभा के संस्करण सम्पादित करने पर यह कार्य पूर्व में होना चाहिये था। (और हुआ भी यह अभी प्रमाणित करेंगे)। अतः अब मूल शब्द का साशय प्रयोग कर उपरोक्त अभिकथन व्यावसायिक प्रतिद्वन्दता में विजय प्राप्ति के फल से कहा प्रतीत होता है।

(ब) यहां एक बात और विचारणीय है। आदरणीय दैवकरणि जी 'पथ प्रदर्शिका' में छपे अपने लेख में लिखते हैं - 'मैंने सत्यार्थ प्रकाश की प्रति भारत सरकार से प्राप्त की है, इसे भी ध्यान में रखें।' इस अभिकथन से थोड़ा भ्रम है। भारत सरकार से जो प्रति आदरणीय दैवकरणि जी ने प्राप्त की वह कौनसी है मूल, प्रेस अथवा कोई और? क्या इसको भी ३७वें संस्करण में आधार बनाया है? जैसा कुछ विद्वान् पूर्व में कल्पना करते रहे हैं कि एक तीसरी

प्रति भी थी जो असली प्रेस कॉपी थी। क्या यह वह तो नहीं? इसके स्वरुप व उपयोग के बारे में आ. दैवकरणि जी को स्पष्ट कथन करना चाहिये।

(स) रफ प्रति व मुद्रण प्रति चाहे अन्य प्रकाशकों को उपलब्ध न रही हो पर पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक की कृतियों को पढ़ने से यह निश्चय है कि किसी न किसी समय इन पाण्डुलिपियों को न सिर्फ उन्होंने देखा वरन् विश्लेषण भी किया और शायद आवश्यक नोट्स भी लिये होंगे। यही स्थिति पं. भगवद्दत्त जी के बारे में है। अगर ऐसा न होता तो पूज्य पं. भगवद्दत्त जी क्योंकर कह पाते - 'इतना निश्चित है कि दूसरी बार का संस्करण दूसरी प्रति के अनुकूल है' -पं.भगवद्दत्त (स. प्र. सम्पादकीय पृ. ४)

(३) ❖ 'परोपकारिणी सभा की ओर से भी केवल एक मुद्रण प्रति (प्रेस कॉपी) से ही मिलान करके प्रकाशन किया जाता रहा है। **मूल प्रति की ओर किसी ने दृष्टिपात नहीं किया** ....।' (३७वें संस्करण में श्री विरजानन्द जी का वक्तव्य)

❖ 'मेरा अब भी सप्रमाण यही कथन है कि मूल प्रति का उपयोग दो स्थलों को छोड़कर किसी ने कभी नहीं किया (परोपकारी अप्रैल, ६५) (चलिये यहां पूर्व लेख - 'किसी ने दृष्टिपात नहीं किया से, 'दो स्थलों पर उपयोग किया' पर तो आ गये)।

निवेदन -

यद्यपि इसका उत्तर सभा को देना चाहिये परन्तु उन्होंने उत्तर देना तो दूर उसे छापकर इसका समर्थन कर दिया। परन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हमारा कथन है कि **उपरोक्त अभिकथन सर्वथा मिथ्या है, जिसे सफेद झूठ कहा जाता है।** कम से कम परोपकारिणी सभा का **पांचवां संस्करण** जिसके सम्पादक स्वनाम धन्य पं. लेखराम जी थे, तथा **३४वां संस्करण** जिसकी सम्पादक एक विद्वत् मण्डली थी (जो निश्चित ही सभा द्वारा नियुक्त की गई होगी) **इन दोनों संस्करणों में दोनों हस्तलेखों का उपयोग किया गया है यह निश्चित है।** इसके अतिरिक्त पं. भगवद्दत्त जी के संस्करण में जो पाठान्तर आदि दिये हैं तथा हस्तलेखों को सन्दर्भित किया गया है यह निश्चय है उन्होंने भी अपने सम्पादन कार्य में दोनों हस्तलेखों का उपयोग किया है।

प्रमाण -

(अ) कृपया सभा के पांचवें संस्करण की भूमिका (निम्नलिखित) देखने का श्रम करें।

सत्यार्थ प्रकाश पांचवी आवृत्ति की भूमिका

यह आवृत्ति प्रथम समुल्लास से १२वें समुल्लास के अन्त तक नीचे लिखी प्रतियों से मिलायी गई है। - लिखी हुई **दोनों असली कापियें**, दूसरी, तीसरी और चौथी बार की छपी कापियां ...।'

यहां स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि ५वीं आवृत्ति (संस्करण) में दोनों हस्तलेखों पर विचार किया गया है। क्या श्री दैवकरणि जी यह कहना चाहते हैं कि उक्त अभिकथन झूठा है, और सभा के तत्कालीन अधिकारियों व पं. लेखराम जी पर असत्यवादन का आरोप आरोपित करना चाहते हैं? अगर ऐसा है तो सभा ने ५वें संस्करण के पश्चात् के संस्करणों में इस का खण्डन क्यों नहीं किया?

वास्तविकता यही है कि ५ वें संस्करण में हस्तलेखों का उपयोग किया गया है। पाठकगण कृपया ध्यान देवें। - दशम समुल्लास में (द्वितीय संस्करण पृ.२६४ पं. २१ पर) पाठ निम्न प्रकार है :- (प्रश्न) फल, मूल, कंद, और रस इत्यादि अदृष्ट में दोष नहीं (उत्तर) अच्छा तो भंगी वा मुसलमान अपने हाथों से..........।' इसका उत्तर द्वितीय संस्करण व ५वें संस्करण में भिन्न है।

पंचम संस्करण में उक्त प्रश्न के उत्तर में पाठ निम्न प्रकार से है। -

उत्तर - **'वाह जी वाह! सत्य है कि जो ऐसा उत्तर न देते तो क्या धूल राख खाते ? गुड़ शक्कर मीठी लगती, दूध घी पुष्ट करता है, इसीलिये ये मतलब सिन्धु क्या नहीं रचा है ? अच्छा जो अदृष्ट में दोष नहीं** तो भंगी वा मुसलमान. ....।'

गहरी स्याही का बढ़ा हुआ पाठ कहाँ से आया ? ३७ वें संस्करण में पृ.२४१ पं.२१ से यही पाठ उपलब्ध है, और ३७वां संस्करण मूल प्रति पर आधारित है ऐसा श्री दैवकरणि जी का दावा है, इससे प्रमाणित होता है कि ५वें संस्करण में यह पाठ मूल हस्तलेख से ही लिया गया था। इस पर भी आ० दैवकरणि जी '५वें संस्करण में 'मूल' का उपयोग नहीं किया गया' इस बात पर दृढ़ थे तो उन्हें अपने अन्वेषण कार्य से पूर्व सप्रमाण इसका खण्डन करना चाहिये था ताकि पाठकों को पता चल सके कि पूर्व अधिकारीगण किस प्रकार झूठा प्रमाणपत्र देते थे।

७वें समुल्लास में निर्गुण स्तुति के फल के संबन्ध में सं.२,५, और ३७ का पाठ देखें -सं. २- 'इससे अपने गुणकर्म स्वभाव भी करना।' सं. ५- 'इसका फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं वैसे गुणकर्म स्वभाव अपने भी करना।' संस्करण ३७ में सं. ५ वाला पाठ है। यह प्रमाण है कि सं. ५ का पाठ मूल (रफ) प्रति पर आधारित है । **'किसी अन्य ने मूल प्रति को न देखा' श्री दैवकरणि जी का यह दावा खण्डित है।** अगर श्री दैवकरणि जी ऐसा न मानें तो उन्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने उक्त पाठ मूल प्रति से न लेकर सं. ५ से लिया।

नोटः ५वां संस्करण हमें उपलब्ध नहीं है अन्यथा अन्य पाठ-प्रमाणों से भी सिद्ध किया जा सकता था कि इस संस्करण में मूल (रफ) प्रति का कितना उपयोग किया गया था। (यद्यपि सभा अधिकारियों के उक्त स्पष्ट लेख के पश्चात् इसकी आवश्यकता नहीं है।) न्यास अध्यक्ष पूज्य स्वामी तत्त्वबोध जी सरस्वती ने परोपकारिणी सभा को लिखा कि सभी उपलब्ध संस्करणों की जिरोक्स कराके न्यास को भेजने की कृपा करें। जो भी व्यय होगा वह न्यास द्वारा वहन किया जावेगा। पर सभाधिकारियों की कृपा न हो पायी। स्पष्ट मना कर दिया गया।

(ब) **पं. भगवद्दत्त जी ने भी मूल प्रति का उपयोग किया** - प्रमाण

❖ सं. २ पृ. १६१ पं. १२ (६समुल्लास) '........यथार्थता से गुण दोषों का विचार करें। पं. भगवद्दत्त जी के अनुसार मूल प्रति (हस्तलेख) में पाठ है 'गुण दोषों को विचारे'। यही पाठ ३७वें संस्करण में है अतः प्रमाणित होता है कि पं. भगवद्दत्त जी ने मूल प्रति का उपयोग किया।

❖ सं० २ पृ० १६३ पं० ११-१२ (६ समुल्लास) - पाठ है -'जिधर भय विदित हो ....।' पं. भगवद्दत्त जी की टिप्पणी है कि मूल में पाठ है 'जिधर से भय विदित हो ....।' ३७वें संस्करण में यही स्वीकारने से प्रमाणित होता है कि पं. भगवद्दत्त जी ने अत्यन्त सूक्ष्मता से मूल प्रति का विश्लेषण किया था।

प्रख्यात विद्वान् डॉ. राम प्रकाश जी का भी यही निष्कर्ष है।

जब पण्डित जी (पं. भगवद्दत्त जी) ने दिसम्बर १६१६ में हस्तलेख की **प्रथम प्रति से मिलान किया** तो पता चला कि शुद्ध पाठ ''सब का पालन करने से प्रजापति और....।' (सत्यार्थ विमर्श - डॉ. राम प्रकाश पृ. ३६)।

वस्तुतः पं. भगवद्दत्त जी के संस्करण, जिसमें स्थान-स्थान पर मूल को संदर्भित किया गया है, के विद्यमान रहते, 'किसी ने मूल पर दृष्टिपात नहीं किया' विरजानन्द जी का ऐसा असत्य वादन करना तथा आज तक करते जाना उन्हीं का साहस है।

(स) **३४वां संस्करण**

३४वें संस्करण में परोपकारिणी सभा के मंत्री माननीय श्रीकरण जी शारदा का प्रकाशकीय वक्तव्य पाठकगण ध्यान से पढ़ें - 'इस संस्करण की विशेषता यह है कि यह महर्षि के हस्तलेखों (महर्षि द्वारा लिखाई गयी सत्यार्थ प्रकाश की **पाण्डुलिपि और प्रेस कॉपी**) तथा द्वितीय संस्करण से मिलान करके पूर्णतः शुद्ध व प्रामाणिक रुप में छापा गया है। साथ ही यथा सम्भव मूल ग्रन्थ तथा अनुवाद की उस सामग्री से भी जिसका प्रयोग महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने किया था और जो आज भी महर्षि की उत्तराधिकारिणी सभा की बहुमूल्य सम्पत्ति के रुप में सुरक्षित है, मिलान कर लिया गया है।' (चै.शु. सं. २००३)। क्या आदरणीय दैवकरणि जी अब भी यह कहेंगे कि उक्त प्रमाण पत्र जो माननीय श्री करण जी का है वह झूठा है?

अब हम कुछ पाठों के आधार पर यह प्रमाणित करेंगे कि ३४वें संस्करण में मूल (रफ) प्रति के पाठों को लिया गया है। आधार यह रखा गया है कि ३४वें संस्करण के जो पाठ सभा के २ से लेकर ३३वें संस्करण तक नहीं हैं, और ३४वें में हैं तथा यही पाठ इसी रुप में ३७वें संस्करण में भी हैं तो इनको मूल (रफ) प्रति का ही मानना होगा (क्योंकि ३७वें संस्करण के सम्पादक श्री दैवकरणि ने अपने संस्करण को मूल प्रति पर आधारित बताया है) {साभार - पं. मीमांसक जी}

(१) **(माङ्माने शब्दे च) इससे माता शब्द बनता है।** यो मिमीते ....।' गहरी स्याही का वाक्य सभा के पूर्व संस्करणों में नहीं है ३४वें में है। यह कहां से आया? यह पाठ ३७वें सं. में भी पृष्ठ २० पं. २६ पर है। स्पष्ट है कि ३७वें की भांति ३४वें संस्करण में भी यह मूल (रफ) प्रति से लिया गया।

(२) योञ्चति अच्यते गत्यङ्गत्येति सोऽयमग्नि' यह पाठ पूर्व संस्करणों में इसी प्रकार है। ३४वें संस्करण में सोऽयमग्नि से पूर्व **'वा'** लिया गया है। ऐसा ही ३७वें संस्करण में भी है। स्पष्ट है कि ३४वें संस्करण में यह पाठ मूल (रफ) प्रति से लिया गया।

(३) १३वें समुल्लास में (तौरेत उत्पत्ति पर्व) क्रम संख्या ३३ की आयत -

'ईश्वर का मुंह देखा।।

समीक्षक - जब ईश्वर के मुंह है तो और भी सब अवयव होंगे। और वह जन्म मरण वाला भी होगा।'

यह समीक्ष्य और समीक्षांश ३४वें संस्करण में सर्वप्रथम आया। पूर्व संस्करणों में नहीं था। ३७वें संस्करण में भी इसकी उपस्थिति (पृ. ४४२ पं. २४ से २६) इस बात का प्रमाण है कि ३४वें संस्करण के सम्पादकों ने इसे मूल प्रति से लिया है। (३७वें सं. में 'अवयव' के स्थान पर 'अवश्य' है - न जाने क्यों?) आयत की संख्या में भी अन्तर है।

(४) तेरहवें समुल्लास की १८वीं समीक्षा में ३४वें संस्करण में पूर्व संस्करणों की अपेक्षा निम्न पाठ अधिक है - **'और अपनी स्त्री का पातिव्रत्य धर्म भंग कराके व्यभिचारिणी बनाता है।'** गहरी स्याही का पाठ ३७वें संस्करण में भी उपलब्ध है (पृ. ४३६ पं. ५-६)। इससे सिद्ध है कि ३४वें संस्करण में बढ़ा हुआ पाठ मूल (रफ) प्रति का है। (नोट - वैसे यह पाठ यहां युक्त नहीं है क्योंकि समीक्ष्य आयत में अबिराहम ने सरी से ऐसी कोई बात नहीं कही जिससे यह लगता हो कि वह उसे व्यभिचारिणी बना रहा हो। अगर यह समीक्षा प्रेस प्रति में नहीं है तो इसका अर्थ होगा कि प्रेस प्रति करते समय प्रतिलिपिकार ने महर्षि के आदेश पर यह पंक्ति हटायी होगी।

(५) समीक्ष्य आयत सं. ३० में, ३४वें संस्करण में **'और अपने छोटे बेटे यअकूब को पहिनाया'** पाठ बढ़ा हुआ मिलता है। यह कहां से आया? ३७वें संस्करण में भी यह बढ़ा हुआ पाठ मिलना (पृ. ४४० पं. ३१) स्पष्ट करता है कि यह पाठ ३७वें सं. की भांति मूल (रफ) प्रति से लिया।

(६) सं. ३४ में समीक्ष्य ६० में 'गल गया था' के स्थान पर 'गलगथा' पाठ रखा गया। यह प्रथम पाण्डुलिपि के आधार पर ही है।

(७) छटे समु. पृ. १५२ पर लोभ, मोह, भय, मैत्री से मिथ्या साक्ष्य देने वाले को जो अर्थ दण्ड लिखा है वह सं. २ में भिन्न है। ३४वें सं. में वही है जो ३७वें में है। अतः ३४वें में यह पाठ 'मूल प्रति' का है। ये कुछ स्थल यहां दिये हैं, ऐसे अनेकों प्रमाण हो सकते हैं।

उपरोक्त प्रमाणों से आदरणीय श्री धर्मसिंह जी कोठारी का यह कथन सत्य प्रमाणित होता है कि उन्होंने तथा साथी सम्पादकों ने दोनों हस्तलेखों का उचित प्रयोग किया था। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि **श्री दैवकरणि जी का यह लिखना कि उनसे पूर्व किसी ने मूल पर दृष्टिपात भी नहीं किया, सर्वांश में असत्य है।**

(४) कार्य की प्रकृति के बारे में श्री दैवकरणि जी के बदलते वक्तव्य

(अ) ३७वें संस्करण में प्रकाशित -'इस संस्करण के सम्बन्ध में' देखें -

'मूल प्रति के पृष्ठ जहां अनुपलब्ध थे (जैसे १२वें समुल्लास में) वहां मुद्रण प्रति का आश्रय लिया गया है।' **विश्लेषण** - ३७वां संस्करण मूल प्रति (रफ प्रति) की अक्षरशः अनुकृति है, सिवाय १२वें समुल्लास के जहां पर कि मूल के पृष्ठ अनुपलब्ध होने के कारण जितने

पृष्ठ अनुपलब्ध थे वे स्थल मुद्रण प्रति (द्वितीय हस्तलेख) के अनुसार छाप दिये। इसका अर्थ यह भी है कि परोपकारिणी सभा से प्रकाशित ३६ संस्करण तथा अन्य प्रकाशकों के संस्करणों से कोई सहायता नहीं ली। अपनी बुद्धि लगाने की कोई आवश्यकता न थी। जैसा मूल (रफ) में था वैसा छाप दिया।

(ब) परोपकारी अप्रैल १९९५ में प्रकाशित श्री दैवकरणि जी का लेख -'सभा के अधिकारियों के सम्मुख सारी स्थिति स्पष्ट करके, अनेक पाठों का मिलान करके दिखाया उन पाठों की संगति विसंगतियों की चर्चा हुई तथा **मूल प्रति से पाठ शुद्ध जंचा**।' ('जंचना' व्यक्तिनिष्ठ होता है)

टिप्पणी- उपरोक्त कार्य में भारी श्रम और विद्वता की आवश्यकता है, सभाधिकारी तथा सम्पादक जी निश्चय ही इस योग्य हैं यह निर्विवाद है। मुख्य बात यहां भी यही है कि उपरोक्त समस्त प्रक्रिया के पश्चात् सभी को **'मूल प्रति से पाठ शुद्ध जंचा**।

इसी लेख में आगे कहा है - ३७वें संस्करण में जो पाठ है वह ऋषि दयानन्द जी का लिखवाया हुआ तथा उनके अपने हाथ से बढ़ाया वा संशोधित पाठ ही रखा है।

आगे लिखा है - **'मूल प्रति और मुद्रण प्रति** को कोई भी निष्पक्ष विद्वान् मिलकर देख लें। **ऋषि के हाथ से किए जितने भी संशोधन हैं उनसे अतिरिक्त सभी पाठ भेद प्रतिलिपिकर्त्ता के प्रमाद जन्य हैं** जो ऋषि के नाम पर छपते आ रहे हैं।

विश्लेषण - स्पष्ट कथन नहीं है पर गहरी स्याही के वाक्यों से यह प्रतीत होता है कि पहले जहां विरजानन्द जी का कथन था कि १२वें समुल्लास (कुछ स्थल) के अतिरिक्त पूरा ३७वां संस्करण मूल प्रति से छपा है अब ऐसा प्रतीत होता है कि **मुद्रण प्रति में उपलब्ध ऋषि के हाथ के संशोधन भी स्वीकार किये हैं**।

(स) परोपकारी जून १९९५ में छपा आदरणीय विरजानन्द जी का लेख -

(१) महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा बोलकर लिखायी गई प्रति मूल प्रति मानी है।

(२) इस मूल प्रति को देखकर प्रेस प्रति तैयार की गई। इस कॉपी में जहां-जहां **महर्षि जी के अपने हाथ से परिवर्धन परिवर्तन** किए गये तथा मूल प्रति के पाठ काटे गये, वे सभी स्वीकार किए गये हैं।

(३) प्रतिलिपिकर्त्ता जहां-जहां मूल प्रति से **अकारण हटता है,** वे सभी अस्वीकार किए गये हैं।

(**नोट** - यहां कारण और अकारण का निर्णय सम्पादक जी पर निर्भर है।)

विश्लेषण

कुल मिलाकर कार्य की प्रकृति के बारे में इस लेख से भी वही निष्कर्ष निकलता है जो अप्रैल १९९५ के लेख से निकलता है। अर्थात् मूल प्रति प्रामाणिक स्वीकार की गयी है। इसके जो पाठ ऋषि ने प्रेस प्रति में स्वयं काट दिये हैं (यद्यपि बढ़ाने में तो हस्तलिपि से पहचान होती है काटने में तो रेखा खींचनी होती है वह किसने खींची यह जानना असम्भव

प्रायः है) उन्हें छोड़ दिया है तथा प्रेस प्रति के जो पाठ ऋषि के हस्तलेख में बढ़ाए गये हैं स्वीकार किये गये हैं। यहां तक सीधा क्रम है, आदरणीय सम्पादक जी का अपना हस्तक्षेप नहीं है। - 'और न ही अपनी ओर से कुछ मिलाया है।'

(द) इसी लेख में आगे लिखा है - 'और मेरा इस कार्य का आधार है दोनों पाण्डुलिपियां, पाण्डुलिपि की लेखन शैली, उस युग के वातावरण और लेखकों की मानसिकता का अध्ययन तथा ऋषि दयानन्द की समस्या और शैली को समझना।'

टिप्पणी- उक्त अभिकथन ३७वें संस्करण में दिये वक्तव्य से **सर्वथा भिन्न** है। वहां केवल मूल प्रति के अनुकरण का स्पष्ट कथन है (१२वें समुल्लास के अतिरिक्त) यहां दोनों पाण्डुलिपियों को आधार बताया गया है।

इसके बाद भी परोपकारी में छपे ऊपर उद्धृत दोनों लेखों में जो कार्य की प्रकृति बताई है उसमें तो ऋषि के हस्तलेख का संज्ञान होना ही पर्याप्त है क्योंकि मूल प्रति के अलावा ऋषि द्वारा बढ़ाये पाठ को स्वीकार करने की बात ही तो कही गयी है। 'पाण्डुलिपि की लेखन शैली ...... ऋषि दयानन्द की समस्या और शैली को समझना' जो अभिकथन है उसकी आवश्यकता तो तब है जब सम्पादक को अपनी विशेष योग्यता के आधार पर स्वविवेक से कुछ पाठों को स्वीकार करने अथवा त्यागने के बारे में निश्चय करना होता है। श्री दैवकरणि के अनुसार उन्हें तो ऐसा कुछ करना ही नहीं था न उन्होंने किया फिर? जिन्हें अपने कार्य पर भरोसा होता है आत्मविश्वास होता है **उन्हें बार-बार अपने कार्य के आधार के बारे में अभिकथन बदलने की आवश्यकता नहीं होती**।

(य) (१) परोपकारी - सितम्बर १९९५ में श्री विरजानन्द जी का लेख - **एक और कलाबाजी**। 'परोपकारिणी सभा अजमेर ने सत्यार्थ प्रकाश की मूल प्रति तथा मुद्रण प्रति **दोनों का विश्लेषण करके** शुद्धतम् संस्करण निकालने का प्रयास किया है।

(२) '..... ऐसे स्थलों पर पूर्वापर गम्भीरता से निरीक्षण करके ....'

पाठक श्री विरजानन्द जी के क्रमशः परिवर्तित होते वक्तव्यों को देखें। पहले मूल प्रति छापने की बात, फिर प्रेस प्रति के ऋषि के हाथ से बढ़ाए अथवा काटे पाठ ही स्वीकार-अस्वीकार करने की बात जिसमें सम्पादक जी का कोई हस्तक्षेप नहीं। अब दोनों पाण्डुलिपियों के विश्लेषण, निरीक्षण की बात। विश्लेषण तथा निरीक्षण के निष्कर्ष व्यक्तिनिष्ठ होते हैं अतएव पाठ स्वीकारने-अस्वीकारने में सम्पादक के विवेक, पूर्वाग्रहों आदि की घुसपैठ होने से सुरक्षित रुप से अब यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि सभी स्वीकृत पाठ ऋषि के ही थे।

(र) एक और अभिकथन - 'और **जिन स्थलों की ओर महर्षि का ध्यान नहीं जा पाया** था दोनों पाण्डुलिपियों को मिलाकर **उन्हें ठीक करके** शुद्धतम् संस्करण प्रकाशित किया गया है।' (परोपकारी जून १९९५)

टिप्पणी- इस अभिकथन का क्या तात्पर्य है ? मेरी तुच्छ मति में अब श्री दैवकरणि जी स्वीकार कर रहे हैं कि 'ऐसे स्थल हैं जिनकी ओर महर्षि जी का ध्यान नहीं गया था' ऐसे

में तो उनका शुद्धिकरण माननीय सम्पादक जी द्वारा मूल प्रति ही नहीं प्रेस प्रति से भी हटकर किया होगा **जो अनधिकृत भी है और इनकी पूर्व घोषणाओं के विरुद्ध भी है।** प्रश्न है कि पाठकों के साथ घुमाव फिराव क्यों ? जो कुछ पण्डित जी ने किया है उसे साफ स्पष्ट शब्दों में एक बार ही न बता कर बात को बार बार घुमाना क्यों ? ऐसे जिन स्थलों का जिक्र पं. दैवकरणि जी ने किया है उस जगह ही पृथक से बताने चाहिये थे कि इन-इन स्थलों की ओर महर्षि जी का ध्यान नहीं जा पाया था।

इसी लेख में आगे श्री दैवकरणि जी प्रेस प्रति की अवहेलना न करने की बात भी अन्ततः स्वीकार लेते हैं। यह सब तब और भी भ्रामक हो रहा है क्योंकि श्री दैवकरणि जी ने **कहीं भी उदाहरण आदि देकर अपने पाठ-चयन कला का नमूना प्रस्तुत नहीं किया**। ३७वें संस्करण की पर्याप्त आलोचना-समालोचना हुई। इसके पश्चात् ३८वें संस्करण में तो इस सम्बन्ध में विस्तार से विवरण देना चाहिये था क्योंकि इसके अभाव में ३७वां संस्करण पर्याप्त विवादित रहा था। पर नहीं। यहां ऊपर के लेखों जितनी स्पष्टता भी नहीं रखी। पुनः ३७वें संस्करण की भांति गोल मोल बल्कि उससे भी अधिक अस्पष्ट वक्तव्य है यथा- 'महर्षि दयानन्द सरस्वती के एक-एक अक्षर का मिलान करके उनके वाक्यों को ज्यों का त्यों रखा गया है।' ऐसा तो वही व्यक्ति कर सकता है जिसे निज की दादागिरी व आर्यजनों की भीरुता पर विश्वास हो।

(ल) पुनः पथ प्रदर्शिका अक्टूबर-नवम्बर २००३ के अंक में श्री दैवकरणि जी अपने लेख में लिखते हैं - परोपकारी सभा ने यह किया है कि दोनों पाण्डुलिपियों को अक्षरशः मिलाया है प्रतिलिपिकर्त्ता जहां भी मूल से हटता है या मिलावट करता है, पाठ छोड़ता है या पाठ बदलता है, उसे न मानकर महर्षि जी का मूल पाठ स्वीकार किया है।' इसे कहते है 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' अर्थात् अब विश्लेषण, लेखन शैली, महर्षि का युग उनकी समस्या आदि की आवश्यकता भी क्या है? यहां चार बातें स्पष्ट कही गयी हैं - दोनों पाण्डुलिपियों को **अक्षरशः मिलाया गया है। इस मिलान** में जहां भी पाया गया कि प्रतिलिपिकर्त्ता मूल से -पाठ छोड़ता है, पाठ बदलता है, अथवा पाठ बढ़ाता है (उक्त वक्तव्य में आदरणीय दैवकरणि जी के लिखे का निष्कर्ष) तो उसे अस्वीकार किया गया है तथा मूलपाठ को स्वीकार किया है। **इसका अर्थ है मूल प्रति को ही छापा गया है।** एक उदाहरण के द्वारा अपनी बात स्पष्ट करने का प्रयास करें। इस हेतु सभा. के ३७वें सं. का ही उदाहरण ले लेते हैं। मूल प्रति का पाठ 'यह जप मन से करना चाहिये।'

प्रेस प्रति/द्वितीय सं. का पाठ 'यह जन्म से ही करना चाहिये। (दृष्टांत देना है अतएव **'ही'** हमने बढ़ा दिया है)' यहां प्रेस प्रति/द्वि.सं. में जप को छोड़ दिया है अर्थात् मूल से पाठ छोड़ता है अतः 'जप' स्वीकार किया है।

यहां प्रेस प्रति में 'मूल के 'मन' को बदल 'जन्म' कर दिया। (मूल से पाठ बदलता है) अतः बदले हुए जन्म को स्वीकार न करके 'मन' को स्वीकार किया है।

यहां प्रेस प्रति में 'ही' पाठ बढ़ाया है जो मूल में नहीं है (मूल से पाठ बढ़ाता है/मिलावट

करता है) अतः इस मिलावटी 'ही' को त्याग दिया है।

इस अभ्यास का अन्तिम परिणाम - स्वीकृत पाठ क्या हुआ? 'यह जप मन से करना चाहिये।' यह वही पाठ है जो मूल का है अतः सीधा-सीधा क्यों नहीं कहा जाता कि मूल प्रति को छापा है। यह सब बार-बार वक्तव्य बदलना आदि इस कारण है क्योंकि झूठ की याददाश्त नहीं होती। सम्पादक महोदय सत्यार्थ प्रकाश प्रेमियों को सत्य नहीं बताना चाहते अन्यथा उनका कर्त्तव्य था कि वे सम्पादकीय में विस्तृत रुप से अपने कार्य की रुपरेखा बताते।

आदरणीय दैवकरणि जी ने बार-बार कहा है कि ३७वें संस्करण में एक-एक अक्षर ऋषि का है। हमें सिर्फ एक अक्षर के बारे में बता दें -सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास के **खाखी प्रकरण में पृ. ३२४, ८वीं पंक्ति में १२वां शब्द क्या सचमुच ऋषि का है? अगर ऋषि का है तो ३८वें संस्करण में क्यों हटा दिया?** ३७वें सं. में लिया गया ३७वें को शुद्धतम संस्करण बताया गया। ३८वें में निकाल दिया गया - उसे भी शुद्धतम संस्करण कहा गया। स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने के कारण पाठकों को नहीं बताए गये। यह सब क्या गोरख धन्धा है?

विशेष टिप्पणी- पारदर्शिता का अभाव

जब मन निष्पाप हो, स्वार्थ का अभाव हो, सत्य का प्रभाव हो तो हमारे कार्य पारदर्शी होते हैं। विशेष रुप से तब, जब आप प्रचलित धारा के विरुद्ध कोई कार्य करते हैं और आपको अपने कार्य की सच्चाई पर पूर्ण विश्वास हो तो आपके कार्य में पारदर्शिता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य होती है। महर्षि दयानन्द ने जब सायणादि भाष्यकारों के मिथ्या भाष्यों के विरुद्ध अपना भाष्य प्रारम्भ किया तो नमूने का अंक निकालकर अनेक विद्वानों को भेजा ताकि वे उसका विश्लेषण कर सकें। पं. महेशचन्द्र न्यायरत्न ने जो आक्षेप किये उनका उत्तर भी 'भ्रान्ति निवारण' में महर्षि ने दिया। श्री विरजानन्द जी ने भी १०० वर्ष से अधिक समय से चलते आ रहे सत्यार्थ प्रकाश में व्यापक फेर बदल किये हैं (यहां उनके आशय की स्वच्छता के बारे में हमें सन्देह नहीं है) यह आवश्यक ही था कि बताया जाता कि (और प्रकाशकों के संस्करणों की बात तो छोड़ दें) स्वयं सभा के ३६ संस्करणों में क्या-क्या न्यूनता रह गयी थी? विस्तार से बताना चाहिये था। इसका उत्तर एक ही होगा कि 'मूल तथा प्रेस प्रति' अर्थात् हस्तलेख के आधार पर यह ३७वां संस्करण है। हमारा प्रश्न है कि पंचम तथा ३४वें संस्करण में भी हस्तलेखों का उपयोग किया था। यद्यपि श्री विरजानन्द जी का कथन है कि मूल प्रति पर किसी भी पूर्व सम्पादक ने कार्य नहीं किया। हम पहले ही प्रमाणित कर चुके हैं कि विरजानन्द जी का यह कथन पूर्णतः असत्य है। वे पूर्व सभाधिकारियों के प्रकाशकीय वक्तव्यों को भी नकारना चाहते हैं। आज वे अधिकारी इस दुनिया में नहीं हैं तो क्या उनके प्रमाण पत्र भी असत्य हो गये? यह प्रवृत्ति कितनी अनुचित है यह लिखने की आवश्यकता नहीं। फिर ३४वां संस्करण तो, विद्वानों की एक समिति द्वारा जो विशेष रुप से इस कार्य के लिए नियुक्त की गई थी, जिसमें श्री कोठारी जी के साथ पं. ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु और पं. भगवद्दत्त जी जैसे मूर्धन्य विद्वान थे, के द्वारा सम्पादित किया गया था। ३७वें संस्करण

में ऐसा कुछ भी तो नहीं बताया गया कि वह (३४वां संस्करण) किन कारणों से अस्वीकृत किया गया? (स्व.) माननीय शारदा जी ३४वें संस्करण को शुद्ध प्रामाणिक संस्करण का प्रमाण पत्र देते हैं। वर्तमान सभा उस प्रमाण पत्र को किन कारणों से अमान्य करती है कहीं उल्लेख नहीं। इसका एक ही उत्तर हो सकता है कि पूर्व सभाधिकारियों तथा पूर्व विद्वानों का कार्य पसन्द नहीं। **इससे यह भी दु:खद निष्कर्ष निकलता है कि सत्यार्थ प्रकाश की प्रामाणिकता परोपकारिणी सभा के अधिकारियों पर निर्भर है।** क्या इस बात की कोई गारन्टी है कि भविष्य में नये पदाधिकारी आने पर उक्त संस्करण भी तिरस्कृत नहीं कर दिया जावेगा? क्या इस प्रवृत्ति के भयावह अन्त की पाठकगण कल्पना नहीं कर सकते? पाठकगण हमारी इस आशंका की सत्यता का अनुमान इस बात से लगा सकते हैं कि ठीक ऐसी ही आशंका, जब सभा का ३४वां संस्करण प्रकाशित हुआ तब आर्ष साहित्य प्रकाशन के फोटो प्रिन्ट संस्करण के प्रकाशकीय में व्यक्त की गयी थी। द्रष्टव्य - '३४वें संस्करण को शुद्ध करके छपवाते समय सभा ने यह नहीं सोचा कि पूर्ववर्ती सम्पादकों का कार्य तुमको पसन्द नहीं तो फिर ऐसा कौन कारण है जो भविष्य में आने वाली सन्तति एवं विद्वान् तुम्हारा किया सम्पादन स्वीकार करने में बाध्य हो सकेंगे? (फोटो प्रिन्ट पृ. १८) अब तनिक विचारें कि उक्त आशंका ३७वें संस्करण के प्रकाशन के साथ कितनी सत्य साबित हुयी? अतएव हमारी आशंका भविष्य में सच क्यों नहीं होगी? **और यह तो उसी सम्पादक के अगले (३८वें) संस्करण में ही सत्य साबित हो गयी। अतएव सत्यार्थ प्रकाश की सुरक्षा करनी है तो संशोधन की प्रवृत्ति को दृढ़तापूर्वक कुचलना होगा। अन्य कोई मार्ग नहीं है।**

श्री दैवकरणि जी का यह कथन सत्य हो सकता है पूर्व के सभी संस्करण अनेक शंकाओं का समाधान करने में असमर्थ हैं पर क्या वे आश्वस्त हैं कि ३७वां संस्करण सभी समस्याओं का समाधान करता है? अब कोई असंगति विसंगति शेष नहीं। **अगर ऐसा है तो उन्होंने ३८वें संस्करण में पुनः संशोधन क्यों किये?** विस्तार में हमने मिलान नहीं किया है पर दो स्थल अचानक दृष्टिगत् हुए हैं। एक तो वही पूर्वोक्त खाखी प्रकरण वाला शब्द ३८वें संस्करण में (पृ. ३७३ पं. १) गुपचुप रुप से बिना क्षमायाचना के हटाया गया है, दूसरा ३७वां संस्करण सप्तम समुल्लास पृ. १६० पं. २६ -'और जब जीवात्मा शुद्धान्तःकरण से युक्त' को संस्करण ३८ में (पृ. १८६ पं. ३) इस प्रकार किया गया -' और जब जीवात्मा **शुद्ध होके** शुद्धान्तःकरण से युक्त. ..।' 'शुद्ध होके' पाठ बढ़ाया गया। यहीं पर 'तत्पर' (३७वां) के स्थान पर 'तत्पर रहता है' (३८वां) ऐसा किया है। एक ही सम्पादक जिन्होंने एक संस्करण को शुद्धतम कह दिया उन्हें अगले ही संस्करण में पाठ परिवर्तित करने की आवश्यकता क्यों हुयी? और भी ऐसे स्थल होंगे इससे कैसे इन्कार किया जा सकता है? (कार्य करते-करते ऐसे कुछ और स्थल विदित हुए हैं। **श्री विरजानन्द जी की इस परिवर्तन यात्रा को आगे प्रस्तुत करेंगे**)।

(व) **वक्तव्य** - 'सत्यार्थ प्रकाश का यह शुद्धतम संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है'
'इसी संस्करण का आश्रय लें और व्यर्थ के वादविवाद को प्रश्रय न दें' (द्रष्टव्य- ३८वां संस्करण)

निवेदन - यह गुरुडमवादी मनः स्थिति के फतवे क्या उचित हैं? क्या मान्य होने चाहिये? यह निर्विवाद है कि श्रीमती परोपकारिणी सभा महर्षि जी की **स्थानापन्न सभा** है। ऋषि ग्रन्थों के सम्बन्ध में सभा के सर्वोपरि अधिकार से भी इन्कार नहीं किया जा सकता (यद्यपि यह प्रकाशन, प्रसारण का ही है न कि संशोधन का)। परन्तु सत्य यह भी है कि जितना ज्यादा जिसे अधिकार होता है उतना ही उसके कन्धों पर दायित्व का बोझ होता है। ऋषि का अमर ग्रन्थ, आर्यों की आस्था का केन्द्र सत्यार्थ प्रकाश सभा जब चाहे, जिस रुप में चाहे, छाप दे, आर्यजन उसे बिना तर्क वितर्क के (बिना वादविवाद के) स्वीकार कर लें यह हिटलरी मनोवृत्ति है। सभा के वर्तमान मंत्री आदरणीय डॉ. धर्मवीर जी ने आर्य सेवक पत्र की की शताब्दी पर एक भाषण दिया था उसका अंश आर्य सेवक के सम्पादक माननीय आदित्य मुनि जी वानप्रस्थ ने आर्य सेवक, मई, २००४ में छापा जो इस प्रकार है -

'..... इस सम्बन्ध में मैं परोपकारी मासिक के सम्पादक प्रो. धर्मवीर जी के इस कथन का अनुगामी हूं जो उन्होंने आर्य सेवक के शताब्दी समारोह में इस प्रकार कहा था - "मैं तो समझता हूं कि परोपकारिणी सभा में मैं एक अपवाद हूं जो मैं न प्रधान से पूछूं और न प्रधान मुझे टोके। न मैं सभा से पूछूं और न सभा मुझे टोके.... लगता है आदित्य मुनि जी के साथ मेरी जैसी ही छूट अवश्य होगी, नहीं तो ये इस काम को करते नहीं और मैं भी नहीं करता। यदि कोई मुझे डिक्टेशन लेने के लिये कहेगा, तो मैं उसी दिन काम को बन्द कर देना पसन्द करुंगा। डिक्टेशन लेना पसन्द नहीं करुंगा।' यह सत्य है कि कार्यकर्त्ता को जब तक कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी वह अपनी पूर्ण प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं कर पायेगा। डॉ. धर्मवीर जी ने परोपकारिणी सभा के कार्य, पत्रिका के स्तर को नवीन आयाम दिये हैं, यह उन्हीं के जैसे क्षमतावान व निष्ठावान व्यक्तित्व के द्वारा ही सम्भव था इसमें सन्देह नहीं है। जहां तक सभा के प्रशासनिक मामले तथा पत्रिका का सम्बन्ध है यह निरपेक्ष स्वतन्त्रता परोपकारिणी सभा के स्वयं के चिन्तन का विषय है इसका अन्य किसी से कोई लेना देना नहीं परन्तु आर्य जगत् में धर्मग्रन्थ जैसा रुतबा प्राप्त ग्रन्थ जो सत्यार्थ प्रकाश है उसके व्यापक परिवर्तनों से युक्त संस्करण के प्रकाशन का सारा कार्य सभा को अत्यन्त पारदर्शिता से करना चाहिये। किसी व्यक्ति विशेष के निष्कर्ष थोपने की मनोवृत्ति उचित नहीं।

सभा के जितने भी संस्करण हैं शायद ही कोई अक्षरशः मिलता होगा। आर्यजन बिना कोई प्रश्न पूछे, क्योंकि सभा का प्रकाशन है अतः स्वतः प्रमाणित है ऐसा मानकर स्वीकार कर लें ? यह भी जानने की चेष्टा न करें कि पिछले में क्या कमी रह गयी थी? जो इस नवीन में पूरी कर दी गई है। और क्या इसके पश्चात् कोई नवीन परिवर्तित संस्करण न निकलेगा? ऐसी विचारधारा प्रशस्त नहीं है। पाठकगण तनिक विचार करें आदरणीय विरजानन्द जी सुन्दर से सुन्दर भावनात्मक शब्दों से पिरोयी वाक्यावली में सत्यार्थ प्रकाश प्रेमियों को विश्वास दिलाने का कि ३७ वें संस्करण में जो भी शब्द हैं, वाक्य हैं एक एक ऋषि का है, बार बार प्रयास करते हैं पर इस बात को प्रमाणित करने का न ३७वें में न ३८वें

संस्करण में कहीं किञ्चित् भी प्रयास करते हैं। जबकि ऐसे प्रमाण ग्रन्थ के अन्दर ही दिखलाना परमावश्यक था जैसा पूज्य पण्डित युधिष्ठिर जी ने किया है।

ऐसी वाक्यावली के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

(१) ३७ वें संस्करण में जो पाठ है वह ऋषि दयानन्द जी का लिखवाया हुआ तथा उनका अपने हाथ से बढ़ाया वा संशोधित पाठ ही रखा है। अपनी और से हमने कुछ नहीं जोड़ा है।

(२) ३७ वें संस्करण में ऋषि का बोला या साक्षात् उन द्वारा बढ़ाया गया पाठ कोई नहीं छोड़ा गया है, और न ही अपनी ओर से कुछ मिलाया गया है।

(३) इसके सभी वाक्य महर्षि जी के लिखवाये हुए तथा अपने ही हाथों से बढ़ाए हुए हैं।

(४) सत्यार्थ प्रकाश के ३७ वें संस्करण के माध्यम से जो भी जनता के सामने आया है वह सब का सब महर्षि दयानन्द जी सरस्वती के **हृदय**, मुख तथा हाथ के द्वारा आया हुआ है। **नोट**– यहाँ हृदय शब्द पर विशेष ध्यान देवें। पर पं. दैवकरणि जी ने वह साधन नहीं बताया जिससे वे हृदयगत् विचारों को जान पाये। वस्तुतः यह सब वाक्छल से अधिक कुछ नहीं।

यह तो वही मध्यकालीन युग की मनःस्थिति रही जब एक अत्यन्त सीमित वर्ग द्वारा 'वेद क्या कहता है' इस संबन्ध के सभी अधिकार स्वयं में सुरक्षित रख लिये थे।उस अन्धे युग की पुनर्स्थापना उचित नहीं।

यहां एक बात, जो मैं इस आलोचनात्मक लेख को लिखते-लिखते, बार-बार अनुभव कर रहा हूं, उसे भी सत्य हृदय से प्रकट कर देना चाहता हूं। जितना मैं श्रद्धेय गजानन्द जी व डॉ. धर्मवीर जी की विद्वता, योग्यता और सबसे बढ़के ऋषि-निष्ठा व समर्पण को जानता हूं मेरी धारणा है कि जानबूझ कर वे ऐसा कोई काम कर ही नहीं सकते जो आर्य समाज के लिये वर्तमान में अथवा भविष्य में घातक हो। फिर ३७वें संस्करण का प्रणयन, जो निश्चित ही सत्यार्थ प्रकाश की प्रामाणिकता में बाधक है, उनके होते क्योंकर हुआ? मुझे विचार आता है कि पं. विरजानन्द जी दैवकरणि ने जब दोनों हस्तलेखों को देखा, और उनमें व्यापक भेद पाया, और यह भी देखा द्वितीय संस्करण एवं पश्चातवर्ती सभी संस्करण प्रेस कॉपी के आधार पर छपे हैं (उनके अनुसार) तो एक शोधार्थी के रुप में वे ऐसे ही प्रसन्न हो गये जैसे कोई खिलौना पाकर बच्चा खुश हो जाता है। क्योंकि ऐसा शोध प्रस्तुत करने का अवसर उनके हाथ लग रहा था जिसमें उनकी कीर्ति सदैव के लिय अमर होने वाली थी साथ ही सत्यार्थ प्रकाश को लगभग १०७ वर्षों बाद शुद्धतम रुप में प्रकाशित करने का पुण्य अतिरिक्त। मुझे लगता है आशय उनका भी शुद्ध ही था। पर उन्होंने इस बात पर विचार नहीं किया कि आखिर क्या कारण है कि सौ वर्ष से सत्यार्थ प्रकाश एक से एक बढ़कर ख्यातिनाम आर्य विद्वानों द्वारा सम्पादित किया जाता रहा है क्या यह तथ्य जो उन्हें ज्ञात हुआ है किसी के भी ध्यान में नहीं आया? अगर गम्भीरता से विचार करते तो पूर्व विद्वानों की भांति उन्हें भी निश्चित हो जाता कि **मूल (प्रूफ) प्रति तो अन्य किसी भी लेखक की तरह महर्षि जी द्वारा भी त्यागी हुई थी**। महर्षि के जीवन काल में

ही छप चुके (अधिकांश, प्रायः सम्पूर्ण) संस्करण में यदि कहीं किसी स्थल में संशय हो तभी हस्त लेखों की उपयोगिता है, अन्यथा नहीं, ऐसा वे भी समझ पाते।

(श) .....'क्या पं. मीमांसक जी ने अकेले सटिप्पण सत्यार्थ प्रकाश नहीं प्रकाशित किया?' (परोपकारी अप्रैल १९९५ में छपा देवकरणि जी का वक्तव्य।)

निवेदन-

आदरणीय दैवकरणि जी अगर विद्वद्वर मीमांसक जी के कार्य से प्रेरणा लेते तो सम्भवतः इतनी समस्या न होती। मीमांसक जी द्वारा टिप्पणी देना, ( ) ब्रेकेट में पाठ को बढ़ाना, शुद्ध करना आदि कार्य विद्वानों के मध्य विचारणीय अवश्य हो सकते हैं पर जिस उच्चकोटि की पारदर्शिता पूज्य मीमांसक जी ने बरती है उसके लिये उन्हें बारम्बार नमन करना होगा। पहले तो उनका सम्पादकीय ही पढ़ लीजिए। एक चित्र सामने उपस्थित हो जाता है सत्यार्थ प्रकाश के संस्करणों की यात्रा का। पुनः उन्होंने अपने द्वारा किये जा रहे कार्य की रुपरेखा प्रस्तुत की है। पश्चात् पूरे सत्यार्थ प्रकाश में एक भी स्थल ऐसा नहीं है जहां पाठों के सन्दर्भ में '**मूल में क्या था और इस संस्करण में क्या है**' इस बात को लेकर पाठक एक क्षण के लिये भी संशय में पड़े। पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने यहां तक सतर्कता बरती है कि अगर मूल में 'ने' था और पं. जी ने यहां 'से' उचित समझा है तो टिप्पणी में इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है। अब पाठक को पाठ की वास्तविकता पता है वह स्वतन्त्र है कि किस पाठ को स्वीकार करे। कम से कम, जैसा दैवकरणि जी ने कहा कि मूल पाठ का निश्चय करना मुश्किल हो गया, वह बात यहां नहीं है हर क्षण पाठक को पता है कि मूल सं. २ का पाठ क्या था? अब पं. दैवकरणि जी अपने कार्य पर विचार करें। क्या एक भी स्थल ऐसा है? जहां पाठक अनुमान लगा सके कि मूल प्रति में क्या पाठ था, प्रेस प्रति में क्या पाठ था, ऋषि ने स्वहस्त से कहां-कहां संशोधन किया, कोई पाठ क्यों स्वीकार किया गया? क्यों अस्वीकार किया गया? आदि-आदि। ३७वें संस्करण में एवं पश्चात् के वक्तव्यों में पुनः पुनः यह तो कहा गया कि यही शुद्धतम है पर उपरोक्त कार्य शैली (पं. मीमांसक जी की) न अपनायी गयी और पुनः ३८वें संस्करण में भी वही गोलमाल। कुल मिलाकर भावात्मक वाक्यों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

(ष) परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा प्रकाशित सत्यार्थ प्रकाश पर कई लेखकों ने लेख लिखे, **अज्ञानतावश** विरोध भी किया, परन्तु उनका सबका उचित उत्तर दे दिया गया था, अतः वे चुप कर गये। (पथ-प्रदर्शिका अक्टू.-नवम्बर २००३ का लेख)

पं. विरजानन्द जी का यह कथन भी वास्तविकता से परे है। जिन्होंने ३७वें संस्करण का विरोध किया था वे अज्ञानी नहीं आर्य जगत् के मूर्धन्य विद्वान् हैं। जिनके नाम मैं परिशिष्ट में प्रस्तुत करुंगा। ऐसे शीर्षस्थ विद्वानों को, क्योंकि वे आपके कार्य का समर्थन नहीं कर रहे, अज्ञानी कहना उचित नहीं। हां, मुझ अल्पज्ञ के प्रति आपने जो पुष्प वर्षा की है (उक्त लेख में) वह ठीक है, उसके बारे में कुछ लिखकर पाठकों का समय नष्ट करना उचित नहीं, पर इतना फिर भी निवेदन कर दूं कि योग्यता के बारे में आपका कथन स्वीकार

करते हुए भी आप द्वारा लगाया 'झूठा' होने का आरोप कदापि स्वीकार नहीं। जिसका प्रत्युत्तर मय प्रमाण के आपको भेज चुका हूं अतः यहां उत्तर की आवश्यकता नहीं। आपने भी मेरे इस पत्र का उत्तर नहीं दिया। अर्थात् चुप हो गये। तो क्या यह मान लूं कि मेरे पत्र से आप सहमत हो गये?

उक्त लेख का - 'परन्तु उन सबको उचित उत्तर दे दिया गया था अतः वे चुप कर गये' **यह भी असत्य है। वे सभी विद्वान् आज तक आपके शोध से सहमत नहीं वरन् इस संस्करण को भ्रष्ट संस्करण मानते हैं।** चुप रहने का कारण सदैव सन्तुष्ट हो जाना नहीं होता। हठधर्मिता के समक्ष सर फोड़कर थक जाना भी चुप हो जाने को बाध्य करता है। और इस सन्दर्भ में यही कारण है। मान्य विद्वानों द्वारा हमें दी गई जानकारी के अनुसार गुरुकुल गौतमनगर दिल्ली तथा अजमेर में विद्वानों की बैठक इस सम्बन्ध में हुई। अधिकांश का विचार था यह संस्करण पूर्णतः त्यक्तव्य है। पर उनकी बात न मानी गई। ३७वें संस्करण के बारे में आर्य जगत् के प्रमुख विद्वानों की क्या राय है यह हम इस लेख के साथ परिशिष्ट में दे रहे हैं।

(स) परोपकारी अप्रैल १९९५ में अपने लेख में श्री विरजानन्द जी ने लिखा है कि 'श्री धर्मपाल जी का विचार था कि ३७वें संस्करण के अनेक पाठ ऐसे हैं, जिनको अपनाना चाहिये, उससे अनेक बातों का समाधान होता है। ऐसे ही विचार पं. विशुद्धानन्द जी और पं. ज्वलन्त कुमार के भी थे।'

निवेदन-

यह भी पाठकों को यह विश्वास दिलाने के लिये लिखा है कि उक्त विद्वत् पं. वर्ग आपके कार्य से सहमत है। **एकाधिक पाठ से सहमत होने का तात्पर्य यह नहीं होता कि आपके पूरे सम्पादन कार्य का अनुमोदन हो गया।** यह स्थिति तो प्रायः प्रत्येक संस्करण के साथ है। ५वें, ३४वें व अन्य संस्करणों के कतिपय पाठान्तर भी स्वीकारने योग्य हैं (अनेक विद्वानों की राय में)। मूल बात यह है कि श्री दैवकरणि जी ने मूल (रफ) प्रति को प्रामाणिक मानकर घोड़े के आगे गाड़ी जोतने की तथा सं. २ को उपेक्षित करने की जो शैली अपनायी है उससे उक्त महानुभाव ही नहीं आर्य जगत् के अन्य विद्वान् भी सहमत नहीं हैं। पूज्य पं. विशुद्धानन्द जी तथा पं. ज्वलन्त कुमार जी का एतद् विषयक पत्र व्यवहार हमारे पास है। उन्होंने उस बैठक के सम्बन्ध में भी लिखा है जिसमें ३७वें संस्करण व जगदीश्वरानन्द जी के सत्यार्थ प्रकाश पर विचार किया गया था व सत्य को हठधर्मिता ने परास्त कर दिया। विद्वानों का अपमान भी किया गया। **बस इस अहंकार और हठधर्मिता के ही कारण ऋषि की अमर कृति सत्यार्थ प्रकाश की दुर्गति हो रही है।**

पथ प्रदर्शिका (पूर्वोक्त लेख) में श्री विरजानन्द जी ने एक पैरा ऐसा लिखा है जिससे यह द्योतित होता है कि पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक उनके कार्य से सहमत हो गये थे। जैसा हमने पूर्व कहा कि एकाध पाठ से सहमत होना और बात है, इस पर तो कोई भी निष्पक्ष विद्वान्

सहमत हो सकता है। शायद पं. मीमांसक जी ने 'यह पाठ मन से करना चाहिये' ('जन्म से' के स्थान पर) पं. दैवकरणि के कार्य से अल्पांश में सहमत हो स्वीकार किया हो अन्यथा **पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ३७वें संस्करण के घोर विरोधी थे** इस कार्य को उन्होंने महर्षि जी के प्रति क्रूर व्यवहार बताया था। सत्य यही है कि पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक अन्त तक द्वितीय संस्करण को ही प्रामाणिक मानते रहे थे। अतः श्री दैवकरणि जी का उक्त प्रयास भी पाठकों को सत्य से अपरिचित रखने का उद्योग मात्र है।

हमने १६ जून २००३ को एक पत्र शीर्ष विद्वानों की सेवा में प्रेषित किया था जिसमें सत्यार्थ प्रकाश के साथ संशोधक पण्डितों द्वारा बरती जा रही दुर्भाग्य पूर्ण मनमानी की तरफ उनका ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया था। उसमें ३७वें संस्करण के सन्दर्भ में एक बात उठायी थी कि १०० वर्ष में सभा के संस्करणों का सम्पादन आर्य जगत् के ख्याति प्राप्त मूर्धन्य विद्वानों ने किया था। इस पर विचार होना चाहिये कि उनके कार्य को क्यों हेय माना जावे? विशेष रुप से ३४वें संस्करण के सम्पादन में पं. धर्मसिंह जी कोठारी के साथ पं. ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु तथा पं. भगवद्दत्त जी जैसे अति सम्मानित नाम थे। इसका जो उत्तर पथ प्रदर्शिका के उक्त लेख में श्री दैवकरणि जी ने दिया **वह दुर्भाग्य पूर्ण है**। वे लिखते हैं 'उन विद्वानों ने कितनी खोज की है इसका प्रमाण देखना है तो परोपकारिणी सभा के हस्तलेख संग्रह में देखें। इन्होंने मूल को देखा तक नहीं। केवल अपने समय तक के प्रकाशित संस्करणों के पाठभेद इकट्ठे करके अपनी **भावना को पुष्ट करने वाले** पाठ स्वीकार करके टिप्पणियां दे दी। अन्वेषण का यह ढंग शोभाकारक नहीं होता।'

पाठक स्वयं विचार करें माननीय पं. ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु जो पद वाक्य प्रमाणज्ञ के रुप में जाने जाते हैं, आर्य जगत् में शीर्षस्थ स्थान पर उनका स्थान सुरक्षित है, इसी प्रकार पं. भगवद्दत्त जी जिनको गवेषणा और अन्वेषण पद्धति को आर्य जगत् में पं. लेखराम जी के साथ प्रारम्भ करने का श्रेय जाता है, उन्हीं पर आरोप है कि अन्वेषण का उनका प्रकार शोभाकारक नहीं है। हमने प्रमाणित किया है कि पं. भगवद्दत्त जी ने निश्चित मूल प्रति को देखा ही नहीं उसका विश्लेषण भी किया है पर पं. विरजानन्द जी लिखते हैं इन्होंने मूल को देखा ही नहीं। इन्होंने उक्त परम आदरणीय विद्वानों पर पक्षपाती व प्रमादी होने का आरोप लगाया है जो उनका अहंकार जन्य मद ही कहा जायेगा। पं. युधिष्ठिर जी ने लिखा है कि पं. ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने अथक परिश्रम से परोपकारी सभा में बिखरे ऋषि के हस्तलेखों को व्यवस्थित किया था। इन मूर्धन्य विद्वानों के बारे में सारा आर्य जगत् जानता है हम क्या लिखें? पर पं. भगवद्दत्त जी के बारे में पं. ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने जो लिखा है वह उद्धृत मात्र कर देते हैं - '.... आर्य समाज में वैदिक अनुसंधान के प्रवर्त्तक वा उन्नति पर पहुंचाने वाले, प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं. भगवद्दत्त जी ने निरन्तर अनेक वर्षों के घोर प्रयत्न से ऋषि के इन पत्रों का संग्रह किया तथा कराया उनके इस पवित्र कार्य के लिये आर्य जनता इनकी सदा ऋणी रहेगी। (ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञा. पृ.२)। ऐसे विद्वानों के लिये विपरीत टिप्पणी पं. विरजानन्द जी दैवकरणि को शोभा नहीं देती।

(ह) मेरा उत्तरदायित्व

आदरणीय दैवकरणि जी ने परोपकारी पत्रिका में (उक्त उद्धृत) अपने लेखों में बार-बार यह लिखा है कि 'इस सारे कार्य (संशोधन) का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है।' यह भी लिखा है कि 'कोई भी निष्पक्ष विद्वान् मूल प्रति तथा प्रेस प्रति को मिलाकर निर्णय कर ले।' **निवेदन** है कि यह कोरी लफ्फाजी है ताकि पाठकों को यह भ्रम बना रहे कि कोई विद्वान् अपने कार्य की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये सदैव, सर्वविध उपस्थित है इससे ज्यादा और क्या चाहिये? परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। श्रीमद् दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश न्यास, उदयपुर के यशस्वी अध्यक्ष पूज्य स्वामी तत्त्व बोध जी सरस्वती ने आदरणीय विरजानन्द जी को मूल तथा प्रेस प्रति की छाया प्रति उपलब्ध कराने हेतु लिखा साथ ही यह भी लिखा कि इस पर जो भी व्यय होगा हम देने को तैयार हैं। पाठक पढ़ें, सारा दायित्व स्वयं के ऊपर लेने की बार-बार घोषणा करने वाले श्री दैवकरणि जी का उत्तर। दिनांक ७/३/२००४ के अपने पत्र में वे लिखते हैं - 'सत्यार्थ प्रकाश की प्रतियां परोपकारिणी सभा अजमेर के पास हैं, **यह उन्हीं का विषय है**, अतः आप उनसे ही सम्पर्क कीजिएगा।' (उल्लेखनीय है कि श्रद्धेय डॉ. रामप्रकाश जी के अनुसार दोनों पाण्डुलिपियों की प्रतियां श्री दैवकरणि जी के पास हैं- देखें 'सत्यार्थ विमर्श') **स्पष्ट है अब वे कोई दायित्व लेने को तैयार नहीं, सारा दायित्व सभा पर डाल दिया।**

अब तनिक सभा की स्थिति भी जान लें। सन् ९८ में जब मान्य विद्वानों ने सत्यार्थ प्रकाश में इस हेर फेर की जानकारी दी तो तभी पूज्य स्वामी तत्त्व बोध जी ने सभा को लिखा कि न्यास के व्यय पर मूल प्रति तथा प्रेस प्रति की छाया प्रति भेजने का कष्ट करें। तो कार्यालय सचिव ने पत्र क्रमांक ५३२ दिनांक २४.७.९९ द्वारा सूचित किया कि **'सत्यार्थ प्रकाश की पाण्डुलिपि के छाया प्रति के सन्दर्भ में निवेदन है कि १९७५ की बाढ़ में खराब होने से उसकी छाया प्रति उपलब्ध कराना सम्भव नहीं है।'** अब यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है। श्री विरजानन्द जी लिखते हैं कि सन् १९८२ में उन्होंने इन दोनों पाण्डुलिपियों को सभा में देखा तथा इनमें अन्तर पाया। यहां श्री दैवकरणि जी ने उन पाण्डुलिपियों की खस्ताहाल स्थिति का कोई वर्णन नहीं किया और जब पाण्डुलिपियों की ऐसी स्थिति थी कि जिरोक्स ही सम्भव नहीं थी तो १९९१ वाला अन्वेषण कार्य कैसे हुआ? इस पर श्री दैवकरणि जी किसी प्रति का वर्णन करते हैं जो उन्हें सीधे भारत सरकार से मिली। उस प्रति का इस अन्वेषण कार्य में क्या योगदान रहा यह श्री दैवकरणि जी द्वारा नहीं बताया गया। डॉ. रामप्रकाश जी के अनुसार श्री दैवकरणि जी के पास जो दोनों प्रतियां हैं वे उन्हें भारत सरकार से मिली हैं अथवा परोपकारिणी सभा से?

श्री विरजानन्द जी का ऊपर उद्धृत पत्र आने के पश्चात्, यद्यपि परोपकारिणी सभा के पूर्व पत्र के कारण सहयोग सम्भावना कम ही थी पर पूज्य स्वामी तत्त्वबोध जी ने एक पत्र परोपकारिणी सभा को और लिखा निज के व्यय पर पाण्डुलिपियों की प्रति भेजने के बाबत ताकि सत्यार्थ प्रकाश के पाठ भेदों पर विचार कर शुद्ध पाठ का निर्णय हो सके। इसके

प्रत्युत्तर में श्रद्धेय डॉ. धर्मवीर जी का पत्र दिनांक १.११.२००४ प्राप्त हुआ जिसमें उन्होंने कहा कि सत्यार्थ प्रकाश के शुद्ध संस्करण निकालने का कार्य सभा पूर्व में ही कर चुकी है अतः पिष्टपेषण का कोई औचित्य नहीं है। इस प्रकार प्रकारान्तर से बात कह पाण्डुलिपियां न प्रेषित कीं। यहां यह भी कह दिया कि स्वामी जी के ग्रन्थ छापने का अधिकार केवल परोपकारिणी सभा को है किसी अन्य को नहीं (जबकि न जाने कितने प्रकाशक महर्षि जी के ग्रन्थों को छाप रहे हैं, स्वयं सभा तथा दैवकरणि जी के प्रोत्साहन से भगवती लेजर प्रिन्टर्स दिल्ली वालों ने ३७वें संस्करण की अनुकृति छापी)।

कुल मिलाकर बात यह है कि सत्यार्थ प्रकाश प्रणयन स्थल पर सत्यार्थ-शिक्षाओं के विस्तार हेतु कार्यरत् सत्यार्थ प्रकाश के नाम पर ही निर्मित सुस्थापित न्यास को ही न दैवकरणि जी द्वारा न परोपकारिणी सभा द्वारा पाण्डुलिपियों की प्रति दी जा रही है तो एक आम आर्यजन/विद्वान् को उपलब्ध होने का प्रश्न ही नहीं है। आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री माननीय वेदव्रत जी शास्त्री ने सर्वहितकारी के २१ सित. ०४ के अंक में लिखा है- कोई भी जिज्ञासु अजमेर जाकर विधिनियमपूर्वक हस्तलिखित मूल कापी को देख सकता है।' मान्यवर, क्या यह स्पष्टीकरण उचित है। संशोधन समस्या क्या पाण्डुलिपि के दर्शन करने मात्र से सुलझ जावेगी? यह अतीव समय साध्य व श्रम साध्य कार्य है। प्रतिलिपियां शोधकर्त्ता के पास हो, अनिवार्य है अतएव स्पष्टीकरण छलावा के अतिरिक्त कुछ नहीं। श्री विरजानन्द जी महोदय का बार-बार यह कहना कि - 'मूल देख लो' व्यर्थ ही है और वे भी इसे जानते हैं कि 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी'।

इस प्रकार श्री दैवकरणि जी द्वारा ३७वें सं. के सम्बन्ध में दिये गये विभिन्न वक्तव्यों के सन्दर्भ में इनका सच पाठकों के समक्ष निवेदन कर दिया है।

संशोधकों के तर्क

ऊपर के विस्तृत लेख में यह सुस्थापित किया जा चुका है कि मूल (रफ) प्रति से सत्यार्थ प्रकाश का छापना महर्षि के अभिप्राय से विपरीत है यद्यपि इन हस्तलेखों की महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यह सत्य है संस्करण दो ही प्रामाणिक संस्करण है प्रायः सभी आर्य विद्वान् इसे स्वीकार भी करते हैं। कतिपय नामोल्लेख सहित सम्मतियां आगे देंगे। पर यहां भी समस्या है। जिस प्रकार आज भी पुस्तकों के मुद्रण के पश्चात् उसमें अशुद्धि रह जाना स्वाभाविक होता है उसी प्रकार सं.२ में भी अशुद्धियां हैं यह तो मानना ही पड़ेगा। परन्तु लेखक जब जीवित होता है तो द्वितीय संस्करण में उन अशुद्धियों का निवारण कर देता है। वह भाषा वाक्य विन्यास तथा तथ्यात्मक परिवर्तन भी करता है तो किसी को एतराज नहीं होता क्योंकि स्वयं लेखक ऐसा करता है। पर सत्यार्थ प्रकाश के बारे में दुर्भाग्य से ऐसा नहीं है। क्योंकि मुद्रणकाल में ही महर्षि परलोक सिधार गये। अतः सं. २ में रह गयी मुद्रण भूलों को सुधारने का कार्य कौन करे? महर्षि तो ऐसा अधिकार किसी को नहीं दे गये। अतएव विधिक एवं नैतिक दृष्टि से तो सत्यार्थ प्रकाश जैसा भी है वैसा ही रहने देना चाहिये। फिर भी केवल और केवल मुद्रण-भूल सुधार किया

जावे तो विधिक का तो कह नहीं सकते, पर इसे अनैतिक नहीं कहा जावेगा। उनकी स्थानापन्न सभा ने यह कार्य किया। परन्तु सभा के संस्करणों के सम्पादन अनेक विद्वान् करते रहे अतः पाठ-चयन, भूल निवारण में उनके द्वारा निज विवेक को सर्वोपरि समझने के कारण, उनके द्वारा पूर्व संशोधनकर्त्ता की शैली, पूर्व पाठ को स्वीकारने, अस्वीकारने में अधिक स्वतन्त्रता बरतने के कारण आज एक संस्करण दूसरे संस्करण से अक्षरशः नहीं मिलता, यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति आ गयी, आदरणीय विद्वानों ने ईमानदार कोशिश की परन्तु सम्भवतः भाषा सुधारने, वाक्य विन्यास सही करने के लोभ में **'सं. २ के अधिकतम निकटस्थ रहने की परम आवश्यकता का निर्वहन नहीं कर पाये'**।

अपने द्वारा किये गये संशोधन के समर्थन में संशोधक विद्वान् दो चार असंगतियों, विसंगतियों, मुद्रण भूल, गणितीय भूल, प्रमाण पते की भूल आदि बताकर **संशोधन का अनन्त अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।** आदरणीय दैवकरणि जी लिखते हैं - 'छत्तीस और आठ मिलकर बयालीस होते हैं' ऐसा विचित्र गणित वाला पाठ छापने की हिम्मत आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट ही कर सकता है। आगे 'यह जप मन से करना चाहिये' यह शुद्ध है ऐसा बताते हैं। ठीक है, ऐसे और भी दस बीस पचास स्थल हो सकते हैं, **पर इन्हें ठीक करने के बहाने आमूलचूल परिवर्तन किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।**

इसी प्रकार पूज्यपाद स्वामी जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती ने द्वितीय संस्करण की भूलों को गिनाते हुए हमें अपने पत्र में लिखा-

(१) 'धर्म से सुनिश्चित और अधर्म से घृणा सदा करुं (प्रथम समुल्लास) अशुद्ध पाठ है।

(२) 'विचित्र शास्त्रों के प्रकरणों का वक्ता' (पण्डितों के लक्षण - चतुर्थ समुल्लास)
- विचित्र शास्त्र पर आपत्ति है।

(३) 'पूर्वोक्त प्रातःकाल समय उठ शौचादि सन्ध्योपासन अग्निहोत्र कर वा करा।'
(छठा समुल्लास) - क्या यह वाक्य ठीक है? इसी पैरे में आगे चलकर वैद्यालय शब्द है - क्या राजा का कार्य वैद्यों के घर को प्रतिदिन देखना है?

(४) ब्रह्म से भिन्न, अनादि, अनुत्पन्न, अमृत स्वरुप जीव को जीव कहते हैं। (७ समु.)
- जीव को जीव कहते हैं क्या यह परिभाषा ठीक है?

(५) 'शरीर अर्थात् जीव' नवां समु. मुक्ति के साधन विवेक के नीचे।

(६) 'रक्त मुख अर्थात् भूरे नेत्र वाले' (दशम समु.) - क्या रक्त मुख का अर्थ भूरे नेत्र वाले होता है? क्या ऋषि को इतनी संस्कृत नहीं आती थी?

(७) 'मातृमान् पितृमान् ...।' इत्यादि को सत्यार्थ प्रकाश में शतपथ ब्राह्मण का वचन लिखा है और संस्कार विधि में इसे छान्दोग्य का वचन लिखा है। क्या यह परस्पर विरोध नहीं है?

(८) 'उत शूद्रे उत आर्ये 'यह भी ऋग्वेद का वचन है' क्या इसे कोई ऋग्वेद में दिखा सकता है?' स्पष्ट है यहां स्वामी जी स्वयं को मुद्रण भूल तक सीमित नहीं रख रहे।

ऐसी ही चिरकाल से जानी जा रही अशुद्धियों का वर्णन श्री वेदव्रत जी शास्त्री ने सर्वहितकारी अंक २१ सित. २००४ में कर विरजानन्द जी के पक्ष को सम्पुष्ट किया है। हमारा निवेदन है कि विरजानन्द जी अगर इन अशुद्धियों के शोधन तक अपने को सीमित रखते तो सम्भवतः इतनी उथल पुथल न होती। पर शास्त्री जी इस आलेखान्तर्गत तुलन पत्र देखें। ६५ प्रतिशत से अधिक पाठ भेद निरूद्देश्य हैं। वहां किसी भी प्रकार की अशुद्धि है ही नहीं। **इन व्यर्थ पाठभेदों से ही सत्यार्थ प्रकाश की प्रामाणिकता संकट में है।** इस पर भी विचार करना होगा कि स्वामी जगदीश्वरानन्द जी की अशुद्धि सूची शास्त्री जी की सूची से भिन्न है। अन्य विद्वानों की भी भिन्न है। फिर चूं-चूं का मुरब्बा।

वस्तुतः उक्त समस्याओं का क्या किसी भी समस्या का समाधान सम्भव है। पर उपरोक्त प्रश्न चिन्ह खड़े कर **पूज्य स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने वस्तुतः सत्यार्थ प्रकाश से स्वरुचि के अनुरुप प्रकरण के प्रकरण निकाल दिये हैं क्या यह उनके सदृश् विद्वान् ऋषि भक्त को शोभा देता है?** (पूज्य स्वामी जी के पत्र का जो उत्तर हमने दिया है उसे पाठक परिशिष्ट में पढ़ें उन्हें ज्ञान हो जायेगा कि हमारे विद्वान् सत्यार्थ प्रकाश पर कैसी-कैसी कृपा कर रहे हैं।)

वस्तुतः हम यदि ऋषि को ऋषि कहते मात्र नहीं मानते भी हैं तो हमारे विद्वानों को उनके ग्रन्थों में संशोधन कार्य में (अगर अपरिहार्य होने पर अत्यल्प भी करना पड़े) अत्यधिक सतर्क होना पड़ेगा। ऐसी सतर्कता नहीं बरतने का परिणाम देखिये - तृतीय समुल्लास में वै. ३/२/४ के अर्थ में '(प्राण) भीतर से वायु को निकालना, (अपान) बाहर से वायु को भीतर लेना,' इसके स्थान पर परिवर्तन किया गया - (प्राण) बाहर से वायु को भीतर लेना, (अपान) भीतर से वायु को निकालना। पर बाद में पता चला कि यह ऋषि के अभिप्राय से बिल्कुल विपरीत था। इसे वापस शुद्ध किया गया। सप्तम् समुल्लास में भी यह पाठ है। यद्यपि महर्षि दयानन्द सरस्वती सरलीकरण के पक्ष में थे। वे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने वेद तक को सरल रूप में खोलकर साधारण पढ़े लिखों की पहुंच तक संभव कर दिया, फिर भी सत्यार्थ प्रकाश को और अधिक सरलीकृत करने का प्रयास कम से कम मूल ग्रन्थ में तो नहीं करना चाहिए। ऋषि की भाषा अथवा भाव अथवा वाक्य विन्यास कहीं कुछ क्लिष्ट भी लगे तो यथावत् रहने देना चाहिए। यह १६वीं सदी के उस महान् संस्कृत व्याकरण सूर्य का, जो स्वयं गुजराती था पर मानव मात्र की भलाई के लिये अपने ग्रन्थों का प्रणयन आर्यभाषा में करता है, कालजयी ग्रन्थ है इसमें आज की भाषा व वाक्य विन्यास ढूंढना मूर्खता है। सत्यार्थ प्रकाश पर आधुनिक हिन्दी तथा सरल भाषा में कोई विद्वान् चाहे तो पृथक से कितने ही ग्रन्थ लिखे, स्वागत है और फिर ऐसे प्रयास हुए भी हैं।

सत्यार्थ प्रकाश आर्य समाज के सैद्धान्तिक पक्ष को प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। आर्यों के लिये सत्यार्थ प्रकाश सर्वोपरि प्रमाण के तुल्य है, ऐसा ही मत वाले लोग भी मानते हैं। ऐसी दशा में उपरोक्त ग्रन्थ का एक एक अक्षर तो क्या, कौमा और विराम चिन्ह भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि इनके असावधान प्रयोग से अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। ऋषि के पश्चात्

प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश को हाथ में लेकर आर्य विद्वानों ने न जाने कितने शास्त्रार्थ समर विजित किए हैं। अतः प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश पर अंगुलि उठाने वालों को स्मरण रखना चाहिये कि यह Time tested है। शास्त्रार्थों में एक एक शब्द का कितना महत्त्व हो जाता है इसका एक उदाहरण प्रस्तुत है। - 'रूड़की के मौलवी मुहम्मद कासिम से महर्षि दयानन्द ने, शास्त्रार्थ विषयान्तर न हो जाय, इसलिये कहा था कि 'मैं केवल एक कुरआन पर ही आक्षेप करूँगा और आप भी केवल एक वेद पर ही कीजिए।' इस 'एक वेद' को लेकर मौलवी ने प्रचारित किया कि स्वामी जी केवल एक वेद को ही मानते हैं जबकि ऋषि का अभिप्राय यहाँ 'केवल वेद' से था। यह हमने इसलिये उद्धृत किया है कि संशोधकों को गहराई में जाकर सत्यार्थ प्रकाश के एक एक शब्द का आशय बारम्बार गम्भीरतापूर्वक विचार करना उचित था। उनका पाण्डित्य ऋषि से अधिक नहीं अतएव केवल मुद्रण भूलों तक अपने को सीमित रखने का प्रयास करना था।

यहां संशोधकों व पण्डितों ने यह भुला दिया लगता है कि वे अपने ग्रन्थ में नहीं, एक साक्षात्कृतधर्मा ऋषि के ग्रन्थ में संशोधन का उपक्रम कर रहे हैं अतः स्पष्ट मुद्रण भूलों के अतिरिक्त कुछ भी परिवर्तन करने का नैतिक अथवा विधिक उन्हें कैसा भी अधिकार नहीं है। स्वयं महर्षि ने यह कहा था कि **कोई भूल जानने और जनाने पर ठीक कर दी जावेगी** अर्थात् भूल प्रमाणित करने पर और उनके उसे स्वीकार करने पर ही परिवर्तन किया जावेगा। अतएव आर्य जगत् साप्ताहिक के सम्पादक माननीय प्रो. जयदेव जी आर्य ने अपने पत्र में बिल्कुल सत्य लिखा है - सत्यार्थ प्रकाश में संशोधन का अधिकार किसी को भी नहीं है। पाठकगण एक और मनीषी के इस संदर्भ में प्रकाशित विचारों पर भी मनन करें।

आर्यजगत् के प्रख्यात् विद्वान् डॉ. राम प्रकाश जी ने अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ विमर्श' में बिल्कुल ठीक लिखा है - 'ऋषि की भाषा का अपना सौन्दर्य है। अतः सत्यार्थ प्रकाश के एक-एक शब्द को पूर्ववत् बनाए रखना भाषा-लेखन के इतिहास को सुरक्षित रखना है। (पृ. ५६)।

'ऋषि दयानन्द सरस्वती के लेखों को आर्य समाज प्रमाण (परतः प्रमाण, स्वतः प्रमाण नहीं) मानता है। यदि इनमें भी कुछ वेद विरुद्ध सिद्ध हो जावे तो वह आर्य समाज का मन्तव्य नहीं रहेगा। स्वयं ऋषिवर का ऐसा निर्देश है। **परन्तु दयानन्द के तुल्य ऋषि कोटि के व्यक्ति के चिन्तन पर सामान्य विद्वानों को निर्णय देने अथवा उनकी पुस्तकों में संशोधन करने का अधिकार न था, न है और न ही होना चाहिये।** (वही पृ. ६१)

'... परन्तु स्वामी वेदानन्द, उदयवीर शास्त्री आदि विद्वानों अथवा किसी भी सभा या प्रचारक द्वारा ऋषि कृत ग्रन्थों में संशोधन के नाम पर फेर बदल करने का कोई औचित्य नहीं है।' (पृ. ६२)।

नोट - संशोधनों के संदर्भ में श्रद्धेय डॉ. साहब के इतने स्पष्ट चिंतन के पश्चात् भी न जाने क्यों? उन्होंने श्री विरजानन्द जी के अत्यन्त व्यापक पाठभेद को श्लाघनीय माना है। हमें प्रतीत होता है यह आ. दैवकरणि जी की मूल मूल की रट का परिणाम है।

श्री विरजानन्द जी द्वारा प्रतिलिपिकर्त्ता को शिखण्डी बनाकर सत्यार्थ प्रकाश पर किए आक्षेपः-

'प्रतिलिपिकर्त्ता चमार नीच आदि शब्दों का प्रयोग करता है। जैनियों को अभद्र शब्द लिखता है चारवाक प्रकरण में अश्लील स्पष्टार्थक शब्दों का लेखन करता है, जबकि उक्त स्थलों पर महर्षि की वैदुष्यपूर्ण और सभ्यभाषा उनके बुद्धि चातुर्य का परिचय देती है।' (पथ प्रदर्शिका-अक्टू. नव. २००३)

उपरोक्त अभिकथन हमारी दृष्टि में अत्यन्त आपत्तिजनक है। सच्चाई से परे इस वक्तव्य को इस कारण लिखा गया है कि ताकि **'प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश'** के प्रति आर्यजनों का मोहभंग हो, घृणा उत्पन्न हो कि उसमें ऐसे ऐसे अश्लील व असभ्य शब्दों का प्रयोग हुआ है (इसका सत्य भी अभी पाठकों के सामने रखने का प्रयास करेंगे)। दुर्भाग्य यह है कि जिन शब्दों को प्रतिलिपिकर्त्ता का बताकर आरोप लगाया गया है वे अन्ततोगत्वा महर्षि के ही हैं, क्योंकि अगर प्रतिलिपिकर्त्ता के हैं भी तो भी महर्षि जी ने उन पाठों को स्वीकार किया है। अतः उन्ही के माने जावेंगे। इसका वर्णन पूर्व में काफी विस्तार से हो चुका है अतः पुनरूक्ति उचित नहीं। कौन मानेगा कि जो लेखक क्रोड् शब्द का संशोधन कर **क्रोड़ा क्रोड़ी** कर रहा है, उसके द्वारा संशोधित ग्रन्थ में अवांछित शब्द या वाक्य लेखक सम्मत न हो किसी प्रतिलिपिकार के थे। फिर सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि यदि १०० वर्षों से चले आ रहे सत्यार्थ प्रकाश में आपत्तिजनक शब्दों का प्रयोग है (श्री विरजानन्द जी के अनुसार) तो उसके दायित्व से महर्षि जी को कैसे बचा पायेंगे? क्योंकि ग्रन्थस्थ सभी बातों का उत्तरदायित्व लेखक का ही होता है। यह भाग स्टेनोटाइपिस्ट ने गलत घुसा दिया, यह कम्प्यूटर आपरेटर ने गलत कर दिया, ऐसे बहानों से कोई लेखक बच नहीं सकता। वरना विवादित, प्रतिबन्धित हर पुस्तक का लेखक यह कहकर बच क्यों नही जाता कि यह मेरी नहीं फलां फलां की भूल है। अतः यह एक अत्यन्त बचकाना तर्क है। विरजानन्द जी का आरोप प्रतिलिपिकर्त्ता पर नहीं वरन् महर्षि जी पर ही आता है। **पर हम स्पष्ट कहते हैं कि यह पूर्णतः असत्य है। प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश में एक भी ऐसा स्थल नहीं है जहां असभ्यता अथवा अश्लीलता हो।** हां मतस्थ लोगों को तो धर्मोपदेश भी गाली लगता है अतएव उनकी दृष्टि से सत्यार्थ प्रकाश का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। वरना सत्यार्थ प्रकाश से समीक्षाखण्ड हटाना पड़ेगा।

हम महर्षि जी की समीक्षा शैली पर यहां किञ्चित् विस्तार से विचार करना उपयुक्त समझते हैं। पर इससे पूर्व माननीय विरजानन्द जी से यह पूछना चाहेंगे कि वे अपने हृदय पर हाथ रखकर सत्य मन से यह विचार करें कि ३७वें संस्करण का आविष्कार तो उन्होंने १९९१ में किया पर जिस स्तर के वे विद्वान् हैं सत्यार्थ प्रकाश का कई बार तो अध्ययन मनन उन्होंने किया ही होगा, क्या इससे पूर्व कभी भी उन्हें लगा था कि महर्षि ने कहीं असभ्य तथा अश्लील भाषा का प्रयोग किया है?

उत्तर ना में ही होगा अन्यथा इसके निराकरण का प्रयास उन्होंने पूर्व में ही किया होता।

देखिये, परोपकारिणी सभा के सहायक मंत्री आ.(स्व.) हरविलास जी शारदा ने आगरा से निकलने वाले पत्र 'आर्य मुसाफिर' के ७/८/३१ के अंक में एक विज्ञप्ति निकलवायी उसमें आर्य विद्वानों से प्रार्थना की गई थी कि 'वे सत्यार्थ प्रकाश की उन गलतियों से सभा को सूचित करें कि जो उन्हें दूसरों के साथ वाद-विवाद और शास्त्रार्थों के समय ज्ञात हुई हैं, जिससे उन अशुद्धियों को दूर कर दिया जाय।' इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई यह तो सभा के रिकार्ड में होगी पर प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश में व्यापक फेरफार न देख प्रतीत होता है कि किसी भी विद्वान् ने विशेष आपत्ति नहीं प्रेषित की होगी। **स्पष्ट है जिस अभद्रता, अश्लीलता की बात श्री दैवकरणि जी कर रहे हैं वह अन्य किसी को विदित न हुई।**

अतः कहा जा सकता है कि कभी भी, कोई भी विद्वान् यह नहीं मानता कि महर्षि सत्यार्थ प्रकाश में असभ्य तथा अश्लील हैं। (व्यापक संशोधन - लालसा रखने वाले आर्य विद्वानों के अतिरिक्त)। देखिये स्वयं महर्षि मौलवी मुहम्मद कासिम को दिनांक १३ अगस्त १८७८ को लिखे पत्र में लिखते हैं '**परन्तु अपना कदापि यह विश्वास नहीं कि किसी के प्रति सभ्यता विरूद्ध और अश्लील भाषा का प्रयोग किया जाये**, जैसा कि आप अपने लेख में प्रयुक्त करते हैं।' (पत्र-विज्ञा. भाग १ पृ. १८६)। क्या ऐसा महामना अपने ग्रन्थों में असभ्य तथा अश्लील भाषा का प्रयोग कर सकता है?

ऐसी स्थिति में यह आरोप कि प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश में असभ्य, अश्लील शब्दों का प्रयोग हुआ है फिर चाहे वह प्रतिलिपिकार ने किया हो जिसे महर्षि ने मान्य कर दिया, **गम्भीर है, पीड़ादायक है हम इसका प्रबल प्रतिवाद करते हैं।** अपने आविष्कार को लोगों की दृष्टि में चढ़ाने का यह प्रकार अनुचित है।

महर्षिवर कुरीतियों और पाखण्डों की समीक्षा में कठोर अवश्य हैं। यह कठोरता अत्यन्त उचित थी। क्या बिना कठोरता के, जिस समग्र क्रान्ति का स्वप्न ऋषि देख रहे थे वह संभव थी? अगर वह सत्य का पुजारी विषपायी देवता लल्लो चप्पो करना पसन्द करता तो आज सबसे ज्यादा व्यक्तियों द्वारा वह पूजित होता। यह कठोरता महर्षि के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है पर इसका आधार विकार वाला क्रोध न होकर सात्विक मन्यु है क्योंकि इसके पीछे केवल और केवल लोक कल्याण का भाव है। जिस आर्यावर्त्त के दर्शन महर्षि ने किये वह जगद्गुरु के रूप में अवस्थित था। इसके पतन के कारणों का ऋषि ने अध्ययन किया तो पाया कि स्वार्थी लोगों ने अपने स्वार्थ में अन्धे होकर, नाना प्रकार के पाखण्ड, धर्म के नाम पर प्रचलित कर उस देश को जो सोने की चिड़िया कहलाता था इस स्थिति में ला दिया कि आज एक मां के पास अपने बेटे के लिये कफन उपलब्ध नहीं है। ऐसे में यह कठोरता स्वाभाविक थी। सुधी पाठक जानते हैं जिस दशा में भारत था उसके इलाज के लिये दयानन्द कड़वी लेकिन असरदार दवा लेकर आये थे। स्वयं ऋषि को भी यह ज्ञात था कि स्वयं की आलोचना चाहे जितनी सत्य क्यों न हो किसी को भी भली प्रतीत नहीं होती, अतएव सत्यार्थ प्रकाश का सत्य भी उनको अच्छा न लगेगा। अनुभूमिकाएं इसीलिए लिखी गयीं ताकि महर्षि जी का आशय स्पष्ट हो सके। मतवादी मनः स्थिति वाले लोगों की बात तो जाने दें परन्तु

हम आर्यजन भी महर्षि के आशय पर उनके शब्दों को लेकर प्रश्न चिह्न खड़ा करेंगे तो इससे बड़ी दुःखदायी स्थिति क्या होगी ?

जो व्यक्ति देश हितार्थ अपना सर्वस्व (यहां तक कि समाधि सुख तथा मुक्ति मार्ग भी) त्यागकर मानव मात्र के कल्याणार्थ, नाना प्रकार के दुःख तथा विरोध सहकर भी विचरता था, जब स्वार्थ में लिप्त, देश को पाखंड-अंधकार, अविद्या में डुबो देने वाले चरित्र उनके समक्ष आते थे, जो सत्य को जानते तो थे पर उसे मानने को तत्पर कदापि न थे तो श्रीमहाराज का कठोर होना अस्वाभाविक न था। यह एक पिता के तुल्य ममत्व भरे हृदय के स्वामी का, अपनी संतान को सन्मार्ग पर चलाने के प्रयत्न में ओढ़ी हुई कठोरता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। हृदय में तो वहां करूणा, दया, ममता का सागर ही लहरा रहा था।

हम कहना चाहते हैं कि जो दुर्योधन महाभारत जैसी दुःखद घटना का कारक हो आर्यावर्त्त के विनाश की आधारशिला बना उसे गोत्र हत्यारा, स्वदेश विनाशक नीच कहना अनुचित कदापि नहीं है। बुराईयों के उन्मूलन और सत्य कथन में लीपा-पोती की भाषा का प्रयोग महर्षि को कभी अभीष्ट न था। स्वामी जी ने राय कन्हैयालाल जी XEn. को एक संदर्भ में लिखा- 'मैं आजकल के कॉलिजों और स्कूलों का पढ़ा हुआ नहीं हूं जो मन में कुछ हो और प्रकट कुछ और करूं। मैं जो मन में ठीक समझता हूँ उसी को प्रकट करता हूँ, लाग लपेट की और पॉलिसी की बातें मुझे नहीं आतीं।'

इसी प्रकार जब जोधपुर जाते समय स्वामी जी से कहा गया कि वे वहां असत्य खण्डन में नरमी से काम लेवें तो स्वामी जी ने कहा था- 'मैं पाप के जंगी वृक्षों की जड़ें काटने के लिये कुल्हाड़ी से काम लूंगा न कि नापितों के नहरने से उनको काटुंगा, मुझे किसी का भी भय नहीं है। (महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र पं. लेखराम जी पृ. ८४१-४२)। महाराज जोधपुर को वेश्यासंग से दूर रहने का परामर्श देते हुए स्वामी जी ने कहा था- 'राजपुरूष सिंह के समान हैं और वेश्या **कुतिया** के समान। सिंहों को कदापि न चाहिये कि वह कुतियाओं का समागम करें। ऐसी कुतियाओं पर आसक्त होना तो कुत्तों का काम है न कि अच्छे मनुष्यों का (जीवन चरित्र पं. लेखराम पृ. ८३६)।

'यहां बाग तक कुतियों (वेश्याओं) की आवाज आया करती हैं (पृ. ५५६)। अब अगर कोई कहे कि स्वामी जी ने कुतिया शब्द का प्रयोग किया है जो अपशब्द है तो क्या यह बात ठीक होगी? कदापि नहीं। बिना किसी नियम के जिस किसी के संग संसर्ग करना कुत्ते की जाति की फितरत है अतः मानव शरीर धारण करने के पश्चात् भी जो महिला ऐसा आचरण करे उसे क्या कहा जावेगा?

पं. विरजानन्द जी की ऊपर उद्धृत पंक्तियां पढ़कर हमने पुनः सत्यार्थ प्रकाश का, विशेष रूप से १२वें समुल्लास का अध्ययन किया। **हम कह सकते हैं कि असभ्यता तथा अश्लीलता का आरोप पूर्णतः असत्य है।** जैन मत की समीक्षा के संदर्भ में सुधी पाठकों को ठाकुरदास वाला प्रकरण पूरा स्मृत होगा। बात यहां तक पहुंच गयी थी कि ठाकुरदास ने स्वामी जी को कानूनी नोटिस दिया था जिसका जवाब स्वामी जी को भी कानूनी नोटिस के रूप में देना पड़ा। क्योंकि

जैनी लोग तत्समय में अपने ग्रन्थ किसी को देते न थे। अतएव प्रथम संस्करण में अत्यल्प सामग्री के आधार पर ऋषि की समीक्षा थी। परन्तु जब महर्षि को स्वयं के व आ. सेवकलाल कृष्णदास जी के परिश्रम से पर्याप्त जैन ग्रन्थ प्राप्त हुए तब जिनकी समीक्षा प्रथम ऋषि ने की थी वह सब सामग्री उन ग्रन्थों में विद्यमान थी। ऐसी परिस्थितियों में हम जैसा साधारण व्यक्ति कितना आक्रामक तथा कठोर हो सकता था पर ऋषि ने जैन मत की समीक्षा में कही भी अपना संयम नहीं खोया। जो शैली उन्होंने अन्य मतों की आलोचना में स्वीकार की है वही जैन मत समीक्षा में है। कोई विशेष रूप से जैनियों के लिये कठोर (अभद्र) शब्दों का प्रयोग किया हो यह **तथ्य से विपरीत धारणा है।** जिस वचन की समीक्षा की जा रही है उसी के अनुसार उपमा का प्रयोग ऋषि की समीक्षा में हुआ है।

द्रष्टव्य-गाथा- . . . वन्नेमि. . . प्रक. भा. २/षष्टी/सू.६५।

अर्थात् 'अन्य मतों के देवता नरक के हेतु हैं उनको देख के भी जैनियों के रोमाञ्च खड़े हो जाते हैं। इसकी समीक्षा में जैनियों की इस वृत्ति को कपट और ढोंग की लीला बताना क्या प्रकरण बह्य और अभद्र है?

अपनी-अपनी अर्थात् मात्र जैनियों की प्रशंसा प्रत्येक गाथा में उपलब्ध है। अन्य मतस्थ के आस्था केन्द्रों की भरपूर निन्दा है तो ऐसी स्वस्तुति के लिये वेश्या की उपमा सर्वथा युक्त है क्योंकि वह सदा अपनी प्रशंसा में लगी रहती है यही उसका रोजगार है।

विवेकसार में, जैन मतस्थ की, चाहे वह व्यक्ति कितना भी पतित क्यों न हो, वेश्यागामी हो, विषय भोगी हो मुक्ति अवश्यम्भावी है तथा श्रीकृष्णादि नरक में गये ऐसा लिखा है, (पाठक पूरे प्रकरण को स्वयं पढ़ें), यह लेख दैवकरणि जी को अभद्र नहीं लगता, पर जो स्वयं डिमडिम घोष कर रहा है कि फलां साधु वेश्यागामी होने पर भी स्वर्ग गया जब ऋषि इसे समीक्षा में लेते हैं तो पं. विरजानन्द जी उसे अभद्र मानते हैं। यहां जो कुछ महर्षि ने लिखा है जिन शब्दों का महर्षि ने प्रयोग किया है वह विवेकसार पृष्ठ २२८, विवेकसार पृ. १०१, १०६, १०७, विवेकसार पृ. १६८, विवेकसार पृ. २१६ में स्वयं जैन आचार्य कह रहे हैं। यह तो वही बात हुई पुराणों में उपलब्ध अश्लील प्रकरणों की समीक्षा में यह कहा जावे कि देखो फलां फलां देवता ऐसा था ऐसा था, तो इसका दोष पुराणकार को न देकर समीक्षक को दिया जाए।

अत्यन्त खेद की बात है कि अपने आविष्कार को सही ठहराने की हठधर्मिता में ऐसे ऐसे मिथ्या आरोप प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश पर लगाये गये हैं जो अन्ततोगत्त्वा आर्य समाज के आन्दोलन के लिये घातक हैं। पाठक यह भी जान लें १२वें समुल्लास में **उपरोक्त स्थलों के अतिरिक्त प्रायः ऐसे सभी स्थल ३७वें संस्करण में स्वीकार किये गये हैं।**

नीच चमार आदि जिन शब्दों को प्रतिलिपिकर्त्ता का बताकर द्वितीय संस्करण पर आक्षेप है क्या ३७वां संस्करण इनकी विद्यमानता से रहित है? पाठकगण कृपया ३७वें संस्करण में देखने का प्रयास करें-

'चतु. समु. पृ. ९६ पंक्ति ५-	अर्थात् विडाले के समान धूर्त नीच समझो'
'चतु. समु. पृ. १०० पंक्ति २, ३-	'... मूढ़ और सब मनुष्यों में नीच कहाता है।'
'दशम समु. पृ. २४१ पंक्ति १०-	'क्योंकि जब शूद्र, चमार, भंगी, मुसलमान आदि...'।
'दशम समु. पृ. २४१ पंक्ति २३-	'... भंगी वा मुसलमान...'।
'दशम समु. पृ. २४२ पंक्ति ६ ...	'दुर्योधन गोत्र हत्यारे, स्वदेश विनाशक नीच...'।
'दशम समु. पृ. २४४ पंक्ति ३१ ...	'क्योंकि चाण्डाल का शरीर...'
'दशम समु. पृ. २४४ पंक्ति ३३ ...	'उत्तम वर्णों के हाथ का खाना भंगी का नहीं'
'एकादश समु. पृ. २८६ पंक्ति ६ ...	'शूद्र नीच लोग...'
'एकादश समु. पृ. २९५ पंक्ति ७-८ ...	'अब तो वेश्यावनवत् लल्ला लल्ली... '
'एकादश समु. पृ. २९८ पंक्ति ६ ...	'लोभी कुकर्मी गुरुओं ने बनायी है।'
'एकादश समु. पृ. ३२५ पंक्ति १५ ...	'आदि नीच लोगों... '

'एकादश समु. पृ. ३२५ पंक्ति १५ तथा पृ. ३२६ पं. २५ पर प्रचलित स.प्र. के पाठ स्वीकार किये हैं। **पृ. ३९१ पं. २८ शब्द ८ भी देखें।**

३७वें संस्करण से ये इतने उदाहरण पर्याप्त होंगे। **इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि श्री विरजानन्दजी के आरोप का आधार यह हुआ कि जब यही शब्द उन्हें स्वीकार हैं तब तो ये सही हैं ऋषिकृत हैं, एकाध स्थल पर जहां अस्वीकार हैं वहां इनको अभद्र, अश्लील कहना।** एक विद्वान् को क्या यही शोभा देता है? श्री विरजानन्द जी ने लिखा है '. . . चारवाक प्रकरण में अश्लील स्पष्टार्थक शब्दों का लेखन करता है।' यह प्रतिलिपिकार का नाम लेकर प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश पर अत्यन्त घृणित आरोप है। इन्होंने यह भी न विचारा कि इस लेखन से सत्यार्थ प्रकाश की अस्मिता का क्या होगा ? हमने पाठ भेद तुलना हेतु जो तुलन पत्र इस लेख में दिया है वह संयोग से चारवाक प्रकरण का ही है। उसमें बांयी ओर सं. २ का पाठ है। (जो श्री विरजानन्द जी के अनुसार प्रतिलिपिकर्त्ता का है) तथा दायीं ओर ३७वें संस्करण का है। **पाठक भली भांति देख लें कि अश्लील शब्द कहीं भी एक भी नहीं है**। हां! श्री दैवकरणि जी 'लिंग' के स्थान में उपस्थ का प्रयोग कर समझ रहे हैं कि अश्लीलता थी उसको हटा दिया। हमारा कहना है कि मूल (रफ) प्रति में यदि 'उपस्थ' था भी तो ऋषि ने यहां 'लिंग' करवाया होगा। क्योंकि प्रकरण में यही अधिक उपयुक्त है। यहां ऋषिवर चारवाक दर्शन के 'अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नी ग्राह्यं. . .' की समीक्षा कर रहे हैं। शिश्न का अर्थ प्रकरण में लिंग ही उपयुक्त है। महीधर के जिस वेदभाष्य पर चार्वाकों ने प्रहार किया है वहां भी इसका यही आशय है। देखें - 'महिषी स्वयमेवाश्व शिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति।' यजु. २३/२० महीधर भाष्य। तभी तो महर्षि लिखते हैं कि यह सिवाय वाममार्गी लोगों के अन्य मनुष्यों का काम नहीं है। तनिक यह भी तो विचारें क्या लिंग शब्द अश्लील है? अश्लीलता की परिभाषा प्रकरण के अनुसार होती है। देखिये यजु. १९/७६ के भाष्य में महर्षि लिखते हैं- रेतो मूत्रं विजहाति योनिं

प्रविशदिन्द्रियम्. . . यहां लिखा है- पुरूष का लिंग-इन्द्रिय स्त्री की योनि में प्रवेश करता हुआ वीर्य को विशेषकर छोड़ता है। इससे अलग प्रस्राव को छोड़ता है। **क्या यहां भी अश्लीलता है? क्या आप इस मन्त्र के महर्षिकृत भाष्य को भी त्याज्य घोषित करेंगे? वस्तुतः यहां अश्लीलता तनिक भी नहीं है।** प्रकरण शरीर के अंगों का उपयोग बताना है अतः चिकित्सा विज्ञान की पुस्तकों की भांति यह भी कदापि अश्लील नहीं है।

ऋषि ने प्रकरणानुसार ही शब्दों का प्रयोग किया है। **प्रमाण**- इसी संस्करण २ में, इसी सम्मुलास में पृ. ४०६ पं. ७ पर 'उपस्थ' प्रयोग है। 'गुह्य और **उपस्थ** ये १० इन्द्रियां. . .।'

सत्यार्थ प्रकाश प्रेमियों से निवेदन है कि इस प्रकरण में उल्लिखित शब्दों को देखकर हताश होने की आवश्यकता नहीं है।

सत्यार्थ प्रकाश में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जहां हमें शर्मिन्दा होने की आवश्यकता है। पूरा संदर्भ न देने से उक्त वाक्यों से शायद कोई ऐसा समझे। हमारा निवेदन है कि सम्पूर्ण प्रसंग को पढ़कर तदुपरान्त निश्चय करें। जो नीच चेष्टा करता है उसे नीच कहा गया है। जहां चमार भंगी आदि शब्दों का प्रयोग है उस प्रकरण को पढ़ने से ज्ञात होगा कि वहां महर्षि जात्याभिमानी तथाकथित कुलीन लोगों से संबोधित हैं अतः उनकी धारणा के अनुसार ये जातिगत नाम प्रयोग किए गये हैं अन्यथा ऋषि ने तो कह दिया कि **खाना बनाने का कार्य शूद्र करे।** धर्म के नाम पर चल रहे खुले यौन व्यापार को महर्षि ने साक्षात् अनुभव किया था। ऐसे पामरों के लिये क्या शब्द प्रयुक्त होने चाहिए?'

टूटे संदर्भो में वाक्यों की श्लीलता, अश्लीलता, भद्रता अभद्रता का निर्णय उचित नहीं। देखें चारवाक प्रकरण में चारवाक का आरोप है- 'त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भाण्डधूर्तनिशाचराः - वेद के अनन्य भक्त दयानन्द को यह **नितान्त असत्य** प्रहार क्यों स्वीकार होता ? अतः यह लिखना कि यह धूर्तता भांड धूर्त निशाचरवत् (तीनों शब्द आपत्ति उठाने वाले श्लोक में हैं) महीधरादि टीकाकार की है वेदों की नहीं। क्या यह सत्य अभद्र हो गया ? जो मांस खाता है ऋषि उसको राक्षस क्यों न कहें ? अतः सत्यार्थ प्रकाश प्रेमियों से पुनः निवेदन है कि सत्यार्थ प्रकाश में आपको याथातथ्य समीक्षा ही मिलेगी। आप ग्रन्थ पर अपनी आस्था को न त्यागें क्योंकि आदरणीय विरजानन्द जी ने जब एक धारणा बनाली तो उसे पुष्ट करने हेतु अनुचित प्रयोग भी किए हैं। जहां भाट शब्द है (१२वें समु.) वहां क्योंकि प्रशस्ति गायन की बात है अतः 'भाट' शब्द पूर्ण उपयुक्त है पर आ. दैवकरणि जी वहां 'भांडों' शब्द स्वीकारते हैं तो अभद्रता नहीं। (देखें- ३७ सं. १२ समु. पृ. ४०३ पं. ३१)।

पाठकगण क्षमा करें हम इस प्रकरण पर लिखना तो नहीं चाहते थे पर सत्यार्थ प्रकाश पर असत्य आरोप हमें स्वीकार नहीं। हां अशुद्धियों आदि की बात भिन्न है, विद्वानों के अपने मत हो सकते हैं।

अब हम ३७वें संस्करण में किए गये व्यापक पाठभेद का अन्दाज लगाने हेतु एक संक्षिप्त तुलन पत्र दे रहे हैं।

ओ३म्

तुलन पत्र (१२ समु.)

	द्वितीय संस्करण (पृष्ठ सं/पंक्ति)		३७वां संस्करण (पृष्ठ सं/पंक्ति)	
१.	ग्रन्थों का नाम लेख भी क्यों नहीं	(३६५/१०)	ग्रन्थों का नाम भी क्यों नहीं	(३६२/१०)
२.	मत विषयक	(३६५/१३)	मत विषय में	(३६२/१४)
३.	जैनी लोगों	(३६५/१४)	जैन लोगों	(३६२/१५)
४.	मनुष्य ऐसे हैं कि जिनको	(३६६/८)	मनुष्य ऐसे हैं जिनको	(३६३/६)
५.	मद (= नशा)	(३६७/१५)	नशा (= मद)	(३६४/१४)
६.	पदार्थ नष्ट	(३६८/७)	जो पदार्थ नष्ट	(३६५/१)
७.	तो ठीक है परन्तु जो	(३६६/१७)	तो जो	(३६६/६)
८.	शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः (सम्भवतः मुद्रण भूल है)	(३६६/२१)	समस्पर्शस्तथाऽनिलः	(३६६/१०)
९.	पितादि	(४००/२०)	पिता आदि	(३६७/६)
१०.	-----	(४००/२१)	यज्ञ में	(३६७/६)
११.	का	(४००/२१)	को	(३६७/७)
१२.	और धनादि	(४००/२३)	धन	(३६७/८)
१३.	हैं ?. . .	(४००/२३)	ले जाना व्यर्थ हो जाये	(३६७/८)
१४.	पदार्थ स्वर्ग में	(४००/२४)	स्वर्ग में	(३६७/९)
१५.	उनके नाम से अर्पण करके	(४००/२५)	अपर्ण कर	(३६७/१०)
१६.	वह क्योंकर	(४००/२६)	क्योंकर	(३६७/११)
१७.	ऋण लेके	(४०१/१)	ऋण करके	(३६७/१४-१५)
१८.	कौन मांगेगा और कौन देवेगा?	(४०१/३)	कौन मांगे और देवेगा?	(३६७/१६-१७)
१९.	निकलके	(४०१/४)	शरीर से निकलके	(३६७/१८)
२०.	बनाने हारे	(४०१/७)	करने हारे	(३६७/२३)
२१.	निशाचर अर्थात् राक्षस	(४०१/८)	राक्षस	(३६७/२३)
२२.	स्वयं आपस में	(४०१/१२)	आपस में	(३६७/२६)
२३.	. . . .	(४०१/१३)	इस वास्ते सृष्टि का कर्त्ता अवश्य होना चाहिए	(३६७/३०)
२४.	से ही होते हों	(४०१/१३)	से हों	(३६७/३१)
२५.	सूर्य चन्द्र पृथ्वी और नक्षत्रादि लोक आपसे आप क्यों नहीं बन जाते हैं?।।१।।	(४०१/१४)	पृथ्वी सूर्य चन्द्र आपसे आप क्यों नहीं होते।।१।।	(३६७/३१)
२६.	सत्य भाषण और परोपकारादि क्रिया	(४०१/१७)	सत्यभाषणादि दया आदि क्रिया	(३६८/१)

२७. वेदादि सत्य शास्त्रों	(४०१/१८-१९)	वेद	(३६८/३)
२८. नहीं लिखा	(४०१/१९)	नहीं	(३६८/३)
२९. और मृतकों का श्राद्ध तर्पण करना कपोल-कल्पित है। क्योंकि यह वेदादि सत्य शास्त्रों के विरूद्ध होने से भागवतादि पुराण मत वालों का मत है। इसलिए इस बात का खण्डन अखण्डनीय है	(४०१/१९-२१)	और मृतकों का श्राद्ध भी कपोल कल्पित होने से वेद विरूद्ध पुराण-मत वालों का है।	{३,४,५}(३६८/३-४)
३०. विद्यमान	(४०१/२२)	तो विद्यमान	(३६८/५)
३१. नहीं	(४०१/२२)	कभी नहीं	(३६८/५)
३२. इसलिये जो कोई ऋणादि कर विराने पदार्थो से इस लोक में भोग कर नहीं देते हैं वे निश्चय पापी होकर दूसरे जन्म में दुःखरूपी नरक भोगते हैं। इसमें कुछ भी संदेह नहीं	(४०१/२३-२५)	इसलिये जो कोई ऋणादि से सुखभोग करेगा, वह दूसरे जन्म में अवश्य भोगेगा।	(३६८/७)
३३. निकलकर	(४०१/२६)	निकलके	(३६८/९)
और उसको	(४०१/२७)	उसको	(३६८/९)
३४. पूर्वजन्म तथा कुटुम्बादि का	(४०१/२७)	पूर्वजन्म का	(३६८/१०)
३५. पुनः कुटुम्ब में नहीं आ सकता	(४०१/२८)	पुनश्च कुटुम्ब में नहीं आता	(३६८/१०)
३६. प्रेत-कर्म अपनी जीविकार्थ बना लिया है। परन्तु वेदाक्त न होने से खण्डनीय है।	(४०१/२८-२९)	प्रेत का कर्म जीविका के लिये किया है, वेदोक्त नहीं।	(३६८/११)
३७. अब कहिये	(४०१/२९)	--------	(३६८/११)
३८. वेदादि सत्य शास्त्र देखे सुने		असल वेद देखे, होते	(३६८/१२)
वा पढ़े होते तो वेदों	(४०१/३०)	तो वेद	(३६८/१२)
३९. कि वेद	(४०१अन्तिम पं.)	---------	
४०. पुरूषों ने बनाए हैं, ऐसा वचन कभी न निकालते। हां भांड धूर्त निशाचर वत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं उनकी धूर्तता है वेदों की नहीं	(४०१/३१ व ४०२/१-२)	पुरूष टीकाकार हुए हैं, उन्हीं की धूर्तता है, वेद की नहीं	(३६८/१३)
४१. मूल चार वेदों की संहिताओं को भी न सुना, न देखा और न किसी विद्वान् से पढ़ा	(४०२/३-४)	मूल वेद भी न सुने, न देखे और न किसी विद्वान् से पढ़े	(३६८/१४-१५)
४२. नष्ट भ्रष्ट बुद्धि होकर ऊटपंटाग वेदों की निन्दा करने लगे। दुष्ट वाममार्गियों की प्रमाण शून्य कपोल कल्पित भ्रष्ट टीकाओं को देखकर वेदों से विरोधी होकर अविद्यारूपी अगाध समुद्र में		भ्रष्ट टीका और वाममार्गियों की लीला देखके बिना बुद्धि होकर, वेदों से विरोध, वेदों की निन्दा करने लगे है। यही वाममार्गियों की दुष्ट चेष्टा चारवाक, बौद्ध और जैनों के नास्तिक	

जा गिरे।।७।। (४०२/४-६)

४३. विचारना चाहिये (४०२/७)

४४. लिङ्ग का ग्रहण कराके उससे समागम करना, और यजमान की कन्या से हांसी ठठ्ठा आदि करना, सिवाय वाममार्गी लोगों से अन्य मनुष्यों का काम नहीं है, बिना इन महापापी वाममार्गियों के भ्रष्ट वेदार्थ से विपरीत अशुद्ध व्याख्यान कौन करता ?

अत्यन्त शोक तो इन चारवाक आदि पर है जो कि बिना विचारे वेदों की निन्दा करने पर तत्पर हुए। तनिक तो अपनी बुद्धि से काम लेते। क्या करें विचारे उनमें इतनी विद्या ही नहीं थी, जो सत्यासत्य का विचार कर सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करते।।८।। और जो मांस खाना है यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है इसलिए उनको राक्षस कहना उचित है परन्तु वेदों में कहीं मांस का खाना नहीं लिखा। इसलिए इत्यादि मिथ्या बातों का पाप उन टीकाकारों को, और जिन्होंने वेदों के जाने सुने बिना मन-मानी निन्दा की है निःसंदेह उनको लगेगा सच तो यह है कि जिन्होंने वेदों से विरोध किया और करते हैं और करेंगे, वे अवश्य अविद्यारूपी अंधकार में पड़के सुख के बदले दारूण दुःख जितना पावें उतना ही न्यून है। इसलिए मनुष्य मात्र को वेदानुकूल चलना समुचित है।।६।। जो वाममार्गियों ने मिथ्या कपोल कल्पना करके वेदों के नाम से अपना प्रयोजन सिद्ध करना, अर्थात् यथेष्ट

होने का कारण है, क्योंकि चारवाक आदि वेदों का सत्य अर्थ न जानकर वेदों की निन्दा करने लगे हैं। (३६८/१५-१६)

विचार करना चाहिये (३६८/२०)

उपस्थ ग्रहण आदि लीला और मांस का खाना आदि टीकाकारों की धूर्तता है, वेद की नहीं। सिवाय वाममार्गी लोगों के अन्य भ्रष्ट, वेदार्थ से विपरीत, अशुद्ध व्याख्यान कौन करता ? यही चारवाक बौद्धों के होने का कारण है, क्योंकि बौद्ध लोगों ने चारवाकों में से बहुत सा चारवाकों का मत और थोड़ा सा अपना भी गांठ का लगाया है, इसी से बौद्धों की शाखा पृथक चली है। (३६८/२०-२५)

मद्यपान मांस खाने और परस्त्रीगमन करने आदि दुष्ट कामों की प्रवृत्ति होने के अर्थ वेदों को कलंक लगाया इन्हीं बातों को देखकर चारवाक बौद्ध तथा जैन लोग वेदों की निन्दा करने लगे और पृथक् एक वेद विरूद्ध अनीश्वरवादी अर्थात् नास्तिक मत चला लिया। जो चारवाकादि वेदों का मूलार्थ विचारते तो झूंठी टीकाओं को देखकर सत्य वेदोक्त मत से क्यों हाथ धो बैठते ? क्या करें विचारे 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' जब नष्ट भ्रष्ट होने का समय आता है तब मनुष्य की उल्टी बुद्धि हो जाती है।

अब जो चारवाकादिकों में भेद है सो लिखते हैं। ये चारवाकादि बहुत सी बातों में एक हैं परन्तु चारवाक देह की उत्पत्ति के साथ जीवोत्पत्ति और उसके नाश के साथ ही जीव का भी नाश मानता है। पुनर्जन्म और परलोक को नहीं मानता। एक प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना अनुमानादि प्रमाणों को भी नहीं मानता। चारवाक शब्द का अर्थ "जो बोलने में प्रगल्भ और विशेषार्थ वैतण्डिक होता है।" और बौद्ध जैन प्रत्यक्षादि चारों प्रमाण अनादि जीव पुनर्जन्म परलोक और मुक्ति को भी मानते हैं इतना ही चारवाक से बौद्ध और जैनियों का भेद है परन्तु नास्तिकता, वेद ईश्वर की निन्दा, परमतद्वेष और छः यतना जगत् का कर्त्ता कोई नहीं इत्यादि बातों में सब एक ही हैं। यह चारवाक का मत संक्षेप से दर्शाया दिया। (४०२/७-४०३/६)

४५.	लक्षणों से	(४०३/११)	लक्षण से	(३६८/३१)
४६.	हुई है।	(४०३/१२)	हुई, अन्य बहुत सी बातें चारवाकों की ली हैं	(३६८/३२)
४७.	के हैं-	(४०३/१२)	के होते हैं-	(३६८/३३)

४८.	और जो जो बुद्धि में न आवे, उस उस को नहीं माने।	(४०३/१५)	और जो न आवे उसको नहीं मानते	(३६६/३)
४६.	पहला "माध्यमिक"	(४०३/१६)	माध्यमिक	(३६६/४)
५०.	कितने	(४०३/१६)	जितने	(३६६/४)
५१.	सब शून्य	(४०३/१६-१७)	सब 'शून्य' है	(३६६/४-५)
५२.	इसलिए शून्य ही एक तन्च है	(४०३/२०)	इसलिए शून्य ही एक तत्व है ऐसा मानता है।	(३६६/८)
५३.	घट ज्ञान	(४०३/२२)	घट का ज्ञान	(३६६/१०)
५४.	यद्यपि इनका आचार्य बुद्ध एक है, तथापि शिष्यों के बुद्धि भेद से	(४०३/२८)	यद्यपि इनका आचार्य बुद्ध उपदेष्टा जनाने वाला एक था तथापि सुनाने वाले पुरूषों और शिष्यों के बुद्धि भेद से	(३६६/१७-१८)
५५.	जैसे सूर्यास्त होने में जार पुरूष पर-स्त्रीगमन और विद्वान् सत्यभाषणादि श्रेष्ठ कर्म करते हैं।	(४०३/२६-३०)	जैसे सूर्य के अस्त होने में जार पुरूष जार कर्म, चोर चोरी कर्म और पूर्ण विद्वान् सत्य आचरण करते हैं।	(३६६/१६-२०)
५६.	परन्तु	(४०३/३०)	और	(३६६/२०)
५७.	बुद्धि के	(४०४/१)	बुद्धि का	(३६६/२३)
५८.	जो	(४०४/३)	जो-जो	(३६६/२५)
५६.	सो	(४०४/३)	सो-सो	(३६६/२५)
६०.	रहता	(४०४/४)	होता	(३६६/२६)
६१.	दूसरे की इच्छा	(४०४/४)	दूसरे अप्राप्तों की इच्छा	(३६६/२६)
६२.	शून्य ही को	(४०४/८)	शून्य को	(३६६/३१)
६३.	ज्ञेय दो	(४०४/१२)	ज्ञेय शून्य दो	(३७०/३)
६४.	भी न	(४०४/१७)	न	(३७०/६)
६५.	यह घट का	(४०४/१८)	यह घड़ा का	(३७०/६)
६६.	घट नहीं	(४०४/१६)	घड़ा नहीं	(३७०/१०)
६७.	'यह घट है'	(४०४/१६)	'यह घड़ा है'	(३७०/१०)
६८.	'वैभाषिक'	(४०४/२१)	वैभाषिक जो	(३७०/१३)
६६.	-------	-	अर्थात् आत्मा में सबका प्रत्यक्ष होता है	(३७०/१४-१५)
७०.	स्मरण न होना चाहिये	(४०४/२५)	अथवा 'वह चीज देखी थी' स्मरण न होना चाहिए	(३७०/१७)
७१.	सुख कुछ भी न हो	(४०४/२७)	सुख न हो	(३७०/१६)
७२.	सब	(४०४/२८)	सबको	(३७०/२१)

७३.	जो उत्तर पूर्व दिया है	(४०४ अंतिम पंक्ति)	उत्तर जो पूर्व दिया है	(३७०/२५)
७४.	नोट-श्लोक यहां है परन्तु भाषार्थ आगे दिया गया है (संभवतः मुद्रण मूल)	(४०५)	सर्वस्य. . .संमतम्।। सब संसार दुःखमय है, यह सब तीर्थंकरों का मत है	(३७०/२७-२८)
७५.	योग आचार	(४०५/४-५)	योग और आचार	(३७०/३१)
७६.	---------		और चित्त चैत्तात्मक स्कन्ध पांच प्रकार का मानते हैं	(३७०/३३)
७७.	प्रवृत्ति का	(४०५/६)	प्रवृत्ति अर्थात् जिसमें रूपादि विषय रहते हैं उनका विज्ञान-प्रवृत्ति का	(३७१/२-३)
७८.	सब संसार में दुःखरूप, दुःख का घर, दुःख का साधन रूप भावना करके संसार में छूटना। चारवाकों में अधिक, मुक्ति और अनुमान तथा जीव को न मानना बौद्ध मानते हैं।	(४०५/१४-१६)	सब संसार को दुःखरूप, दुःख का घर और दुःख का साधन रूप भावना करके संसार से छूटना, चारवाकों से अधिक मुक्ति, अनुमान और जीव को मानना, बौद्ध मानते हैं।	(३७१/८-१०)
७९.	अर्थात्	(४०५/२६)	अर्थ-	(३७१/२०)
८०.	को जनाने वाला, जो कि भिन्न-२ पदार्थों का उपदेशक है, जिसको	(४०५/२७-२८)	जनाने वाला उपदेशक जो कि भिन्न-भिन्न पदार्थों का है, जिसके	(३७१/२१)
८१.	न्यून लक्षण युक्त	(४०६/२)	शून्य लक्षण युक्त	(३७१/२४)
८२.	पांच ज्ञान इन्द्रिय	(४०६/६)	पांच ज्ञानेन्द्रिय	(३७१/२८)
८३.	त्वक्	(४०६/६)	त्वचा	(३७१/२८)
८४.	पाद	(४०६/७)	पग	(३७१/२९)
८५.	गुह्य और उपस्थ ये १० इन्द्रियां	(४०६/७)	उपस्थ और गुह्य	(३७१/२९)
८६.	और मन, बुद्धि	(४०६/८)	मन और बुद्धि	(३७१/२९-३०)
८७.	इत्यादि बौद्ध का मत है	(४०६/९)	बौद्धों का मत है	(३७१/३०)
८८.	दुःखरूप होता	(४०६/९-१०)	सब दुःखरूप होता	(३७१/३२)
८९.	संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीखती है, इसलिये सब संसार दुःख रूप नहीं हो सकता। किन्तु इसमें सुख दुःख दोनों हैं। और जो बौद्ध लोग ऐसा ही सिद्धान्त मानते हैं तो खान-पानादि करना और पथ्य तथा औषध्यादि सेवन करके शरीर रक्षण करने में प्रवृत्त होकर सुख क्यों मानते ? जो कहै कि हम प्रवृत्त तो होते हैं परन्तु इसको दुःख ही मानते हैं		जो बौद्ध यह बात कहते तो खान पानादि शरीर रक्षण में प्रवृत्त होकर सुख क्यों मानते है ? संसार में धर्म क्रिया, विद्या, सत्संगादि सब व्यवहार सुखकारक है।	(३७१/३३-३४)

	तो यह कथन ही संभव नहीं क्योंकि जीव सुख जानकर प्रवृत्त और दुःख जानके निवृत्त होता है। संसार में धर्म क्रिया विद्या सत्संगादि श्रेष्ठ व्यवहार सब सुखकारक है। इनको कोई भी विद्वान् दुःख का लिंग नहीं मान सकता, बिना बौद्धों के।	(४०६/१०-१८)		
९०.	स्कन्ध हैं	(४०६/१८)	स्कन्ध कहे हैं,	(३७२/१)
९१.	पूर्ण अपूर्ण हैं	(४०६/१८)	अपूर्ण हैं।	(३७२/१)
९२.	जो ऐसे ऐसे	(४०६/१९)	ऐसे जो	(३७२/१)
९३.	जिन तीर्थङ्करों को उपदेशक और लोकनाथ मानते हैं, और अनादि जो नाथों का भी नाथ परमात्मा है उसको नहीं मानते, तो उन तीर्थङ्करों ने उपदेश किससे पाया ? जो कहै कि स्वयं प्राप्त हुआ, तो ऐसा कथन संभव नहीं। क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। अथवा उनके कथनानुसार ऐसा ही होता, तो अब भी उनमें सुने-सुनाये और ज्ञानियों के सत्संग के बिना ज्ञानी क्यों नहीं हो जाते ? जब नहीं होते, तो ऐसा कथन सर्वथा निर्मूल और युक्तिशून्य सन्निपात रोग ग्रस्त मनुष्य के बड़ाने के समान है।	(४०६/१९-२६)	जिन तीर्थङ्करों को उपदेशक और लोकनाथ मानते हैं, अनादि ईश्वर को नहीं मानते तो उन्होंने उपदेश कहां पाया ? जो कहो कि स्वयं प्राप्त हुए तो कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। न इस समय उपदेश के बिना किसी को ज्ञान हो सकता है और जो होता है तो तुम और अन्य को भी हो जायेगा। उपदेशक बुद्ध आदि की क्या आवश्यकता है।।१।।	(३७२/३-७)
९४.	कभी नहीं हो सकती	(४०६/२७)	कभी नहीं होता	(३७२/८)
९५.	तो हो जाती है इसलिये यह भी कथन भ्रम रूपी है	(४०६/२८)	तो हो जाता है	(३७२/८)
९६.	से ही	(४०६/२९)	से	(३७२/९)
९७.	मानते हैं	(४०६/२९)	कहा	(३७२/९)
९८.	जीवात्मा	(४०६/३०)	जीव	(३७२/१०)
९९.	जब	(४०६/३०)	और जब	(३७२/१०)
१००.	पूजा भी	(४०६/३१)	पूजा	(३७२/११)
१०१.	इन बौद्धों और विषयीजनों	(४०६/३१)	विषयीजन और बौद्धों	(३७२/११)
१०२.	जो उनसे ये बौद्ध नहीं बच सके,		फिर मुक्ति कहां ?	(३७२/१२)

	तो वहां मुक्ति भी कहां रही? जहां ऐसी बातें हैं, वहां मुक्ति का क्या काम ? क्या ही इन्होंने अपनी अविद्या की उन्नति की है, जिसका सादृश्य इनके बिना दूसरों से नहीं घट सकता। निश्चय तो यही होता है कि इनको वेद-ईश्वर से विरोध करने का यही फल मिला।	(४०७/१-४)		
१०३.	पूर्व तो सब संसार की	(४०७/४)	पूर्व सब में	(३७२/१३)
१०४.	दुःखरूपी	(४०७/५)	दुःखरूप	(३७२/१३)
१०५.	फिर बीच में	(४०७/५)	और फिर	(३७२/१३)
१०६.	लगा दी	(४०७/५)	लगाई	(३७२/१३)
१०७.	-------		इसलिए इनका मत सर्वांश सत्य नहीं।	(३७२/१३-१४)
१०८.	क्या इनकी द्वादशायतन पूजा संसार के पदार्थों से बाहर की है, जो मुक्ति की देनेहारी हो सके तो भला कभी आंख मीच के कोई रत्न ढूंढा चाहे वा ढूंढें, कभी प्राप्त हो सकता है ? ऐसी ही इनकी लीला वेद-ईश्वर को न मानने से हुई अब भी सुख चाहैं, तो वेद-ईश्वर का आश्रय लेकर अपना जन्म सफल करें।	(४०७/५-६)	---------	
१०९.	बौद्धों का इस प्रकार का मत लिखा है	(४०७/१०)	बौद्धों का मत इस प्रकार कहा है	(३७२/१५)
११०.	इनकी व्याख्या क्रम से सुनो	(४०८/१०)	मार्ग और इनकी व्याख्या क्रम से सुनो	(३७३/८)
१११.	मन बुद्धि अन्तःकरण	(४०८/१२)	मन-बुद्धि अन्तःकरण	(३७३/१०)
११२.	इनमें	(४०८/१७)	इनके	(३७३/१५)
११३.	इनमें	(४०८/१८)	इनमें से	(३७३/१७)
११४.	उसको	(४०८/१९)	उसी को	(३७३/१७)
११५.	सिद्ध पुरूष	(४०८/२०)	वह सिद्ध पुरूष	(३७३/१८)
११६.	वल्कल वस्त्र	(४०८/२५)	वल्कल वस्त्र धारण	(३७३/२३)
११७.	-------		इसलिये ज्ञान में अर्थ का प्रतिबिम्ब सा रहता है। जो भीतर ज्ञान में	

		द्रव्य होवे तो बाहर न होना चाहिये (३७३/३०-३१)
११८. भला जो बाहर	(४०६/३)	बाहर (३७३/३२)
११६. जो आकाश से सहित बुद्धि होवे	(४०६/४)	जो आकार से सहित बुद्धि होवे (३७३/३३)
१२०. बाह्य पदार्थों	(४०६/५)	बाह्य ज्ञेय पदार्थों (३७३/३४)
१२१. ज्ञेय पदार्थ	(४०६/५)	ज्ञेय (३७४/१)
१२२. ऐसा मानना विद्या से विरूद्ध होने के कारण तिरस्करणीय है। इत्यादि बातें संक्षेपतः बौद्ध मतस्थों की प्रदर्शित कर दी हैं। अब बुद्धिमान विचारशील पुरूष अवलोकन करके जान जायेंगे कि इनकी कैसी विद्या और कैसा मत है ? इसको जैन लोग भी मानते हैं।	(४०६/७-१०)	यह संक्षेप में बौद्ध मत का विषय लिखा है। (३७४/२)
१२३. यहां से आगे जैन मत का वर्णन है-	(४०६/१०)	इसके आगे जैन मत का विषय लिखा जायगा, इसको जैन लोग मानते हैं। (३७४/२-३)

बन्धुओं ऊपर निदर्शित तुलन पत्र १२वें समु. के एकाध प्रकरण मात्र का है। सर्वत्र यही स्थिति है। पाठ भेद ही नहीं पैराभेद मिलते हैं। हमने अन्यत्र भी लिखा है कि संयोगवश १२वें समु. पर तुलन कार्य प्रारम्भ हुआ। मन में जिज्ञासा थी कि अन्यत्र भी क्या ऐसा ही है? हमने ७वां समुल्लास उठाया। चार-पांच पृष्ठ से ही स्थिति ज्ञात हो गयी। यह विवरण भी आपके ज्ञानार्थ प्रस्तुत है।

सप्तम समुल्लास

१.	उसका ध्यान नहीं करते, वे नास्तिक मन्दमति सदा दुःखसागर में डूबे ही रहते हैं। इसलिए सर्वदा उसी को जानकर सन: मनुष्य सुखी होते हैं। (१७८/१६-१८)	न उसका ध्यान करते, वे नास्तिक और दुःखी होते हैं। इसलिये उसी को जानकर मनुष्य सुखी होते हैं।	(१५८/१६-२०)
२.	ऐसा कहीं नहीं लिखा (१७८/१६)	कहीं यह नहीं लिखा	(१५८/२२)
३.	वेदों (१७८/२१)	वेद	(१५६/१)
४.	इसको कहीं ईश्वर उपासनीय (१७८/२३)	कहीं इसको ईश्वर वा उपासनीय	(१५६/३)
५.	वेदों (१७६/४)	वेद	(१५६/७)
६.	---- (मुद्रण भूल है) (१७६/७)	उदान	(१५६/१०)
७.	ये सवकी आयु को लेते जाते हैं (१७६/६-१०)	ये सबके आयु को लेते जाते हैं	(१५६/१२-१३)

८.	बिजली	(१७६/१०)	बिजुली	(१५६/१३)
६.	कि परम ऐश्वर्य का हेतु है	(१७६/१०-११)	जो परम ऐश्वर्य का हेतु है	(१५६/१३)
१०.	क्यों बहकते?	(१७६/१६-१७)	झूंठा क्यों बकते ?	(१५६/१६)
११.	अलग मत होओ	(१७६/२८)	अलग मत हो	(१५६/३३)
१२.	है हुआ था और होगा	(१८०/७)	है और रहेगा	(१६०/६-१०)
१३.	परन्तु उसकी सिद्धि	(१८०/१०)	उसकी सिद्धि	(१६०/१२)
१४.	ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते।	(१८०/११-१२)	ईश्वर में प्रत्यक्ष प्रमाण कभी नहीं घट सकता	(१६०/१४)
१५.	गौतम महर्षि कृत	(१८०/१५)	गौतमकृत	(१६०/१७)
१६.	इन्द्रियों और मन से	(१८०/१८)	इन्द्रियां और मन से	(१६०/२०-२१)
१७.	वा	(१८१/५)	अथवा	(१६०/२५)
१८.	जो कर्मों के अनुसार	(१८१/७)	जो कर्त्ता के कर्मों के अनुसार	(१६१/८-६)
१६.	वैसा ही दण्ड देना चाहिये, उसी का नाम न्याय है।	(१८१/१३-१४)	वैसा ही दण्ड देना न्याय	(१६१/१५)
२०.	डाकू पर	(१८१/१८)	डाकू पर दया	(१६१/१६-२०)
२१.	डाकू को मार देने से	(१८१/१८-१६)	डाकू को मार सकने	(१६१/२०)
२२.	उन दोनों का अर्थ एक ही होता है	(१८१/२०)	जब दोनों का अर्थ एक ही है	(१६१/२२)
२३.	इसलिये एक शब्द का रहना तो अच्छा था।	(१८१/२१)	कोई एक शब्द रहता तो अच्छा होता	(१६१/२३)
२४.	इससे क्या विदित होता है।	(१८१/२१-२२)	इसलिए	(१६१/२४)
२५.	दोनों सुनने में आता है	(१८१/२५)	दोनों सुना जाता है	(१६१/२६)
२६.	सिद्ध होने के अर्थ	(१८१/२७)	सिद्ध होने के सब	(१६१/३१)
२७.	अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है।	(१८१/२८-३०)	न्याय का फल सुख दुःख की व्यवस्था अधिक न्यूनता से फल को दिखला रही है।	(१६१/३२-३३)
२८.	नहीं हो सकता	(१८२/३)	न हो सकता	(१६२/५)
२६.	सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते	(१८२/४)	सर्वज्ञादि गुण भी न हो सकते	(१६२/६)
३०.	यही	(१८२/६)	यह	(१६२/८)

३१.	जो साकार हो, तो उसके नाक, कान, आंख आदि अवयवों का बनानेहारा दूसरा होना चाहिये (१८२/७-८)	और जो साकार होता तो उसके आकार बनाने वाला दूसरा होना चाहिये (१६२/६)
३२.	जो कोई यहां ऐसा कहै (१८२/६)	जो कोई कहै (१६२/११)
३३.	ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया (१८२/६-१०)	ईश्वर ने अपना शरीर बना लिया (१६२/११)
३४.	इसलिये परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता। किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है। (१८२/११-१२)	इसलिये वह परमात्मा न शरीर धारण करता, निराकार होकर सब जगत् को सूक्ष्म आकार से स्थूलाकार बनाता है। (१६२/१२-१४)
३५.	परन्तु जैसा तुम सर्वशक्तिमान शब्द का अर्थ जानते हो, वैसा नहीं। किंतु सर्वशक्तिमान शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित भी किसी की सहायता नहीं लेता। अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है। (१८२/१३-१७)	परन्तु सर्वशक्तिमान शब्द का इतना ही अर्थ है कि ईश्वर को अपने काम करने में दूसरे के सामर्थ्य का सहाय नहीं लेना पड़ता किन्तु स्वसामर्थ्य ही से सब अपना काम पूरा कर लेता है। (१६२/१६-१८)
३६.	ईश्वर चाहै सो करे क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है। (१८२/१८-१६)	ईश्वर जो चाहै सो करे (१६२/१६)
३७.	वह क्या चाहता है ? (१८२/१६)	वह क्या और कैसा चाहता है (१६२/२०)
३८.	चोरी व्यभिचारादि पापकर्म कर (१८२/२१)	चोरी, पाप कर (१६२/२२)
३६.	सुख चाहता है परन्तु स्वतंत्रता के साथ (१८२/२७-२८)	सुख इच्छता है। परन्तु स्वतंत्रता के साथ (१६२/३०)

३७वें संस्करण में उपस्थित व्यापक पाठ भेदों को दर्शाने हेतु यह तुलन पत्र पर्याप्त है (स्थाली पुलाक न्याय)। १३वें व १४वें समुल्लास में भी प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश से कहीं अधिक समीक्ष्य आयतें एवं समीक्षा पायी जाती हैं। देखिये प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश के वे संस्करण जिनका सम्पादन पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, स्वामी विद्यानन्द जी (सत्यार्थ-भास्कर) ने किया है, तथा आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट व सार्वदेशिक सभा ने जो सत्यार्थ प्रकाश प्रकाशित किए

हैं उन सभी में १३वें व १४वें समुल्लास में क्रमशः १३३ तथा १६१ समीक्ष्य आयतें हैं जबकि ३७वें संस्करण में इनकी संख्या क्रमशः १४२ तथा १७१ है। **अर्थात् क्रमशः ९ तथा १० आयतें अधिक हैं।** (नोट सं. २ में इनकी सं. १३० व १५६ है) **यह है ३७वें संस्करण की भिन्नता की व्यापकता।**

यद्यपि यह सदैव ध्यान में रखना चाहिये, जैसा कि हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं कि रफ प्रति के आधार पर सत्यार्थ प्रकाश छपवाना महर्षि जी को कभी अभीष्ट न था अतः ३७वें संस्करण का आधार ही महर्षि जी के अभिप्राय के विरुद्ध होने से उसके पाठों के औचित्य-अनौचित्य का विश्लेषण करने की सार्थकता नहीं है और **यह इस आलेख का उद्देश्य भी नहीं है, क्योंकि हम तो संस्करण दो में संशोधक सम्पादकों की घुसपैठ को अवांछनीय व अनधिकृत मात्र बताना चाहते हैं। शेष निर्णय विद्वत् वर्ग करे।** फिर भी पाठकगण चाहें तो उपरोक्त उद्धृत प्रकरण के इन पाठों को दोनों संस्करणों में पढ़ सकते हैं। हमारा दावा है कि एकाध स्थल को छोड़कर सं. २ के पाठ अधिक प्रौढ़ तथा अधिक स्पष्ट हैं। बढ़े हुए पाठ अनेक स्थलों पर ऋषि शैली के अनुरुप होने से इनका ऋषि सम्मत होना भी और पुष्ट होता है। तुलन-पत्र से स्पष्ट है कि पिचानवे प्रतिशत पाठ-भेदों से किसी अशुद्धि का निराकरण नहीं होता, क्योंकि वहां सैद्धान्तिक अशुद्धि तो दूर, मुद्रण की अशुद्धि भी नहीं है। ऐसे में ये परिवर्तन नितान्त अनावश्यक, अवांछनीय तथा स्वयं को महत्त्व दिलाने की लालसा से उद्भूत हैं। **अतएव ३७वें संस्करण ने १०० वर्ष से भी अधिक समय से चले आ रहे टाइम टेस्टेड सत्यार्थ प्रकाश की प्रामाणिकता को नष्ट करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं किया है।**

यहां यह लिखना अनुचित न होगा कि सत्यार्थ प्रकाश जैसे ऋषि कृत ग्रन्थ में एक-एक शब्द का अपना महत्त्व है उससे लापरवाही से छेड़छाड़ करना अर्थ का अनर्थ कर सकता है। एक उदाहरण- तुलन पत्र देखें (क्र.सं. ६८) जीवात्मा को जीव किया गया है। 'आर्य जगत्' २.६.०२ के एक लेख में दावा किया है कि जीव व जीवात्मा भिन्नार्थक हैं (आवश्यक नहीं कि हम सहमत हों)। इसी प्रकार पू.पं. विशुद्धानन्द जी मिश्र ने अपने एक पत्र में हरिजन सोमनाथ जी त्यागी को लिखा था - 'प्रतीकों से पूजा में 'से' (करण) के स्थान पर 'की' सम्बन्ध मानने पर सारा अभिप्राय ही बदल जाता है।'

अतएव सत्यार्थ प्रकाश में एक भी शब्द परिवर्तित करना जोखिम से खाली नहीं है। **अतः किसी भी परिवर्तन से पाठकों को कम से कम परिचित कराना तो किसी भी सम्पादक का परम धर्म है जिसका पालन पं. विरजानन्द जी दैवकरणि ने न तो ३७वें संस्करण में किया और अनेक विवाद उठने के बावजूद ३८वें संस्करण में भी नहीं किया।** ऐसा क्यों? क्या यह उनका दायित्व नहीं था? इसके विपरीत देखा जाय तो पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने अगर एक शब्द का भी पाठभेद (मुद्रण भूल मानकर भी) किया है तो इसको उल्लिखित किया है। एकाध उदाहरण - उनके द्वारा सम्पादित संस्करण (१) पृ. ६१७ पं. ८ यहां **'कराना'** ऐसा छापा है तो नीचे टिप्पणी दी है - सं. २ में **'करना'** पाठ है (२) पृ. ६१७ पं. ६ यहां पर **'के'** पाठ है। नीचे टिप्पणी में लिख दिया है - 'सं.२ में **'से'** पाठ है।' यह है ऋषि ग्रन्थों के सम्पादन में उच्च कोटि की पारदर्शिता।

सत्यार्थ प्रकाश में संशोधनों का दुष्परिणाम

(१) **ग्रन्थ की प्रामाणिकता का विनष्ट होना** – आज शायद ही सत्यार्थ प्रकाश का एक संस्करण दूसरे संस्करण से अक्षरशः मिलता होगा। इसका कारण रहा संशोधकों द्वारा अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार ऐसे संशोधन करना जिन्हें दूसरे विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया। और जो पाठ इन विद्वानों ने स्वीकार किये उन्हें पूर्व के विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया। सभी 'मैं ही सही हूं' इस पर अड़े रहे। सम्पादकों की स्वच्छन्दता देखिये -वर्तमान में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा जो संस्करण विक्रय किया जा रहा है उसके सम्पादक महोदय ने कहीं सं. २ के पाठ यथावत् रखे हैं कहीं अन्य विद्वानों के संशोधन स्वीकार कर लिये हैं। ऐसे अनेक उदाहरण इस संस्करण में विद्यमान हैं। पर ऐसा करने का आधार क्या है? इस सम्बन्ध में एक शब्द भी लिखने का कष्ट सम्पादक जी ने नहीं किया (प्रसंगवश- इस संस्करण में अशुद्धियों की संख्या चार अंकों में है)। ३७वें संस्करण ने तो लगभग एक नवीन सत्यार्थ प्रकाश का रुप ले लिया है। स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने तो सम्पादक अथवा अनुवादक के धर्म को ही ताक पर रख दिया तथा अनेक प्रकरणों को स्वेच्छा से ग्रन्थ से निकाल ही दिया। और पाठकों को इस बाबत जानकारी देना भी कर्त्तव्य न समझा। परिणाम क्या है? **जब भी कोई विपक्षी सत्यार्थ प्रकाश के मूल स्वरुप पर प्रश्न उठावेगा तो तत् समय अगर ये संशोधक विद्वान् जीवित रहे तो 'मेरा सही है मेरा सही है' की पुकार लगाकर विपक्षी को स्वयमेव विजयी होने का अवसर प्रदान कर देंगे** और आम आर्य समाजी तो स्वाध्याय में कमी तथा संशोधकों द्वारा तथ्य छिपा लिये जाने की वजह से इन परिवर्तनों से अनजान ही है, तत् समय में ही इन परिवर्तनों का ज्ञान होने से किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जावेगा। क्या संशोधक महानुभावों ने कभी इस स्थिति पर विचार किया है? पूज्य स्वामी ओमानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश को ताम्र पत्र पर उत्कीर्ण कराने का जो स्तुत्य कार्य किया, **उसकी प्रामाणिकता का अब क्या होगा? शताब्दियों तक सत्यार्थ प्रकाश को यथावत् रखने की अभिलाषा द्वारा गुरू ओमानन्द जी के इस प्रयास पर शिष्य ने कुछ ही वर्षों पश्चात् पानी फेर दिया।**

(२) **अनुवाद अप्रामाणिक** – सत्यार्थ प्रकाश का २२ अथवा २३ भाषाओं (देश विदेश की) में अनुवाद हो चुका है। ३७वें संस्करण तथा स्वामी जगदीश्वरानन्द जी के संस्करण की विद्यमानता में (जब तक इन्हें अप्रमाणिक घोषित नहीं किया जावेगा) वे सारे अनुवाद मूल से काफी भिन्न होने के कारण अप्रमाणिक हो गये हैं।

(३) सैंकड़ों लेखकों ने सहस्त्रों पुस्तकों तथा लेखों में सत्यार्थ प्रकाश के कोटेशन दिये हैं। उक्त दोनों संस्करणों की विद्यमानता में इनके पाठों से न मिलने के कारण वे भी अप्रामाणिक हो गये हैं।

(४) **सबसे खतरनाक बात यह है कि इन संस्करणों ने विद्वानों का, जो थोड़ा बहुत संकोच था कि ऋषि-ग्रन्थों में ज्यादा स्वेच्छाचारिता से परिवर्तन कैसे करें, उसे दूर कर उन्हें स्वेच्छाचारिता बरतने का मार्ग दिखा दिया है।** अत्यन्त भय है कि

यह परिवर्तन यात्रा अब तेजी के साथ लागू रहेगी और भविष्य में कई तथाकथित सुधरे हुए संस्करण हमारे सामने आवेंगे। पू. स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने तो मांग कर ही दी है कि केवल सत्यार्थ प्रकाश ही क्यों ऋषि के सभी ग्रन्थों में सुधार होना आवश्यक है। इस भयावह भविष्य की कल्पना करते ही हमारा चित्त इतना व्यथित होता है कि हम वर्णन नहीं कर सकते।

एक अन्य प्रसिद्ध आर्य विद्वान् भी वर्षों से लिख रहे हैं कि सत्यार्थ प्रकाश के कतिपय प्रकरण अव्यावहारिक होने के कारण निकाल दिये जाने चाहिये। आचार्य यशपाल जी (देहरादून) पवमान (सित.'०४) में इसका उत्तर देने की पीड़ा झेल रहे हैं। **आर्य बन्धुओं! अगर अब भी न संभले तो बाद में पछताने का भी अवसर नहीं मिलेगा। जो मौन रहेंगे इतिहास उनके भी अपराध को क्षमा नहीं करेगा।**

संशोधन की रेलगाड़ी जब चल पड़ी तो रुकने का नाम न लेगी इसका प्रमाण है परोपकारिणी सभा के ३७वें संस्करण को अक्षरशः ऋषि प्रोक्त बताने वाले आ. विरजानन्द जी की संशोधन यात्रा अभी भी गतिमान है। आदरणीय विद्वानों तथा स्वाध्यायशील सत्यार्थ प्रकाश प्रेमियों की सेवा में कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं।

श्री विरजानन्द जी दैवकरणि की संशोधन यात्रा

हमने पूर्व में भी शंका प्रकट की थी कि क्या श्री दैवकरणि जी आश्वस्त हैं कि ३७वां संस्करण सम्पूर्ण है उसमें अब आगे संशोधन न होंगे? परोपकारी पत्रिका में १९९५ में छपे अनेक लेखों में श्री विरजानन्द जी द्वारा बार-बार दावा किया गया है कि ३७वें संस्करण का एक-एक शब्द ऋषि का है, इसका तात्पर्य यही है कि उनकी दृष्टि में यह सम्पूर्ण है। पर आश्चर्य इस बात का है कि इसके पश्चात् भी न केवल सभा के ३८वें संस्करण में वरन् २००३ में छपे भगवती प्रकाशन के सत्यार्थ प्रकाश तक उनकी संशोधन यात्रा जारी है। कुछ उदाहरण -

	३७वां संस्करण (सन् १९९१)	**पृ./पं.**	**३८वां संस्करण** (सन् १९९८)	**पृ./पं.**
१.	मत विषय में	(३९२/१४)	मत **विषयक**	(४१७/१५)
२.	जैन लोगों	(३९२/१५)	**जैनी** लोगों	(४१७/१६)
३.	मनुष्य ऐसे हैं जिनको	(३९३/६)	मनुष्य ऐसे हैं **कि** जिनको	(४१८/६)
४.	उसका मत	(३९४/२)	**उनका** मत	(४१९/२)
५.	जो पदार्थ नष्ट	(३९५/१)	पदार्थ नष्ट	(४२०/२)
६.	धन को क्यों ले जाते **हैं**?	(३९७/८)	धन को क्यों ले जाते?	(४२२/१९)
७.	पशु मार के होम करना वेद में कहीं नहीं और मृतकों का श्राद्ध भी कपोल कल्पित होने से वेद विरुद्ध पुराणमत वालों का है।	(३९८/३-४)	पशु मार के होम करना वेद में कहीं नहीं और मृतकों का श्राद्ध भी कपोल-कल्पित होने से **यह** वेद विरुद्ध पुराण मत वालों का **मत** है।	(४२३/१८-१९)
८.	इसीलिये भ्रष्ट टीका	(३९८/१५)	इसीलिये **नष्ट** भ्रष्ट टीका	(४२३/३२)
९.	**बिना** बुद्धि होकर वेदों से विरोध	(३९८/१६)	वेदों से विरोध **करके, नष्ट भ्रष्ट बुद्धि होकर**	(४२३/३२-३३)

१०.	**नास्तिक** होने का कारण है	(३६८/१७)	**मत के** होने का कारण है	(४२४/१)
११.	क्योंकि चारवाक आदि वेदों का सत्य अर्थ **न जानकर वेदों की निन्दा करने लगे हैं।**	(३६८/१८)	क्योंकि चारवाक आदि **भी** वेदों का सत्य अर्थ (**नही जान सके**)	(४२४/२)
१२.	स्त्री अश्व की	(३६८/२०)	स्त्री **से** अश्व **के**	(४२४/३)
१३.	स बौद्धः	(३६६/२)	**सः** बौद्धः	(४२४/१८)
१४.	सुनाने वाले पुरुषों	(३६६/१८)	**सुनने** वाले पुरुषों	(४२५/४)
१५.	रुप स्कन्ध **और** (दूसरा)	(३७१/२)	रुप स्कन्ध (दूसरा)	(४२६/२६)
१६.	रुपादि विषय **रहते** हैं	(३७१/२)	रुपादि विषय है	(४२६/२६-२७)
१७.	जो संसार सब दुःख रुप होता	(३७१/३२)	जो **सब संसार** सब दुःख रूप होता	(४२७/२६)
१८.	जो बौद्ध यह बात कहते तो	(३७१/३३)	जो बौद्ध यह बात कहते **हैं** तो	(४२७/२७)
१९.	अद्वैत उपदेश**क** बौद्धों का है	(३७२/७)	अद्वैत उपदेश बौद्धों का है	(४२८/५)
२०.	मार्ग और इनकी	(३७३/८)	**और मार्ग** इनकी	(४२६/६)
२१.	'इसके आगे प्रकरण रत्नाकर...' से पूर्व कोई शीर्षक नहीं है	(३८०)	'आस्तिक और नास्तिक का संवाद' शीर्षक है।	(४३७)
२२.	उक्त प्रकरण में यहां प्रश्न और उत्तर शैली	(३८०)	'नास्तिक-आस्तिक' शैली	(४३७)
२३.	इसके आगे प्रकरण रत्नाकर से जिसको जैनियों ने मुम्बई में छपवाया है जैनियों के ईश्वर खण्डन में प्रश्न लिखते हैं	(३८०)	इसके आगे प्रकरण रत्नाकर दूसरे भाग से जिसको बड़े-बड़े जैनियों ने अपनी सम्मति के साथ माना और मुम्बई में छपवाया है जैनियों के ईश्वर खण्डन में आस्तिक-नास्तिक संवाद के प्रश्नोत्तर यहां लिख रहे हैं	(४३७)
२४.	पृ. ३८२ पं. १३ 'इसमें कोई दोष नहीं' पर उत्तर समाप्त		इसके पश्चात् 'परमात्मा किसी प्रपंच... प्रबन्ध नियम उसी ने किया है' ८ पंक्तियों का **पाठ अतिरिक्त** मिलता है	(४३६/१७-२४)
२५.	पृ. ३८२ पंक्ति ३२ '... वह कभी बन्ध में न गिरेगा' पर उत्तर समाप्त		इसके पश्चात् 'और जब बहुत से ईश्वर... ईश्वर भी लड़ा भिड़ा करेंगे यह डेढ़ पंक्ति का **पाठ अतिरिक्त** है।	(४४०/१२-१२)
२६.	पृ. ३८३ पंक्ति ७ '... राग नहीं कर सकता' पर उत्तर समाप्त		इसके पश्चात् -'ईश्वर से उत्तम वा ...ईश्वर में नहीं'- लगभग २ **पंक्ति अतिरिक्त हैं**	(४४०/२५-२६)

२७. पृ. ३८३ पंक्ति १२ '... वह मूढ़मत है' पर उत्तर समाप्त।	इसके पश्चात् 'हां! तुम अपने और...... पड़े-पड़े ठोकरें खाते हो' तक लगभग ४ **पंक्तियां अतिरिक्त हैं** (४४०-४१/३३,१-३)
२८. पृ. ३८३ पं. १६ पर '...तीर्थंकर का वचन है' से पंक्ति समाप्त।	मूल गाथा प्रक. (२) षष्ठी शतक सूत्र २ व उसका संक्षिप्त आशय मिलता है जो ३७वें सं. में नहीं है। (४४१/६-१७)
२९. पृ. ३८३ पं. २७ पर '... किन्तु अपने २ ठिकाने सब होते हैं' पर समाप्त	पृ. ४४१ पं. ३१-३३ व ४४२/१-७ तक का **पाठ अतिरिक्त मिलता है।**
३०. पृ. ३८३ पं. ३१ से आगे का पाठ पृ. ३६८ पं. ११ से १५ पर मिलता है।	पृ. ४४२ पं. ११ से १५ पर साथ ही उपलब्ध है।
३१. पृ. ३८६ पं. ६ से ११ प्रश्न का उत्तर पूरा नहीं दिया, पृ. ३६८ प्रश्न पुनः दिया तथा उत्तर पूरा है। इस प्रकार अनेक पाठ ३८वें संस्करण की अपेक्षा आगे पीछे है।	पृ. ४४५ पं. १-७ पूर्ण उत्तर है।
३२. पृ. ३८७ - प्रक. भाग १ के श्लोक के पश्चात् - 'यदि जीव अनन्त ... पाठ है।	'यदि जीव अनन्त ...' पाठ से पूर्व 'उत्तर' **बढ़ाया गया** है जो महत्त्वपूर्ण है। (४४६/७)
३३. पृ. ३८६ पं. १ '... अमर क्यों नहीं हो जाते?'	इसके पश्चात् **पाठ बढ़ाया गया है**- 'अब इनकी मुक्ति का थोड़ा सा वर्णन करते हैं' (४४८/६)
३४. पृ. ३६१/अंतिम पंक्ति - 'जो उत्तम जन होगा, वह इस असार जैनमत में कभी न रहेगा। क्योंकि इन महाहठी, दुराग्रही, मूर्खों के संग से सिवाय बुराइयों के, अन्य कुछ पल्ले न पड़ेगा।	पृ. ४५१/६-१२ - ' क्योंकि इन महाहठी, दुराग्रही, मूर्खों के संग से सिवाय बुराइयों के, अन्य कुछ भी पल्ले न पड़ेगा। हां! जो जैनियों में उत्तमजन हैं, उनसे सत्संगादि करने में कुछ भी दोष नहीं।' **नोट** - यहां पादटिप्पणी दी है - जो उत्तम जन होगा, वह इस असार जैनमत में कभी न रहेगा (यहां स्पष्ट नहीं कि यह टिप्पणी महर्षि जी की है अथवा विरजानन्द जी की)
३५. पृ. ३६६ पं. ६ - आठ लाख अर्थात्	आठ लाख (योजन) अर्थात् (४५५/अन्तिम)
३६. पृ. ३६६ पं. ८ से १० 'भला जो जैनी .... श्रेष्ठ भी अश्रेष्ठ हो जाय'	४५६/१७ पर गाथाओं के पश्चात् समीक्षा है।
३७. प्रकरण रत्नाकर भाग दूसरा पत्र ६२७ की समीक्षा नहीं है। (३६६/पं.१६)	यह समीक्षा उपलब्ध है। (४५६/७-८)
३८. (४००/६) के पश्चात् दांयी तरफ वाला पाठ नहीं है।	इस सं. में यह बढ़ा हुआ पाठ है 'और भी इनके आचार्य और मानने वालों की भूल देख लो।' (४६०/२)
३९. जिणवर ... धम्मम् ।।११।।	समीक्षा उपलब्ध है। (४६०/११-१५)

पृ. ४००/१४ के पश्चात् समीक्षा नहीं है।	
४०. पृ. ४००/२३ - दांयी तरफ वाला पाठ नहीं है।	'क्या सुवर्ण को मल या धूड़ में पड़े को कोई त्यागता है।' यह बढ़ा पाठ उपलब्ध है। (४६०/२४)
४१. पृ. ४०१ पं. १७ - 'उनके गुण और...'	'... उनके गुण (ग्रहण) और ... (४६१/२१)
४२. पृ. ४०१ पंक्ति २५ पर 'कि भणिमो... मुद्ध जणम्' की समीक्षा नहीं है।	समीक्षा उपलब्ध है (४६१/अन्तिम ४ पंक्ति)
४३. पृ. ४०२ पं. १८ के पश्चात् पाठ है - 'देखो इनका न्याय'	बांयी तरफ वाला पाठ नहीं (पृ. ४६२ - अन्तिम पंक्ति से पूर्व)
४४. पृ. ४१८ पं.८ '... धर्म की हानि होती'	'... धर्म की हानि नहीं होती (४७६/३२)
४५. पृ. ४२४ पं. ८ - 'इसके आगे ईसाइयों के मत के विषय में लिखा जायेगा।'	पृ. ४८६/२६ (इसके आगे ईसाइयों के मत के विषय में लिखा जायेगा)
४६. समु. १३, 'बाइबल' प्रयोग है	समु. १३, 'बायबिल' प्रयोग है।
४७. इसके आगे मुसलमानों के विषय में लिखा जायेगा। (पृ. ४७८ पं. अन्तिम)	बांयी ओर वाला पाठ ( ) के अन्दर दिया गया है। परिवर्तन भी है - (इसके आगे मुसलमानों के मत विषय में लिखा जायेगा) (पृ. ५४७ पं. अन्तिम)
४८. १४ समु. २८वीं समीक्षा के पश्चात् 'प्रश्न और उत्तर' का प्रकार है। (पृ. ४८६)	पूर्वपक्षी-उत्तरपक्षी का प्रकार है। (पृ. ५६०)
४९. १४ समु.-४२वीं समीक्षा पर कोई पाद टिप्पणी नही है (पृ. ४६५)	यहां पर **पाद टिप्पणी उपलब्ध है** (नोट - सं.२ में यह टिप्पणी है) (पृ. ५६६)
५०. १४६वीं समीक्ष्यांश पर पाद टिप्पणी नहीं है। (पृष्ठ ५३०)	१४६वीं समीक्ष्यांश पर **पाद टिप्पणी है।** (पृष्ठ ६०५)

विशेष

३८वें संस्करण (पृ. ६१०) में उपलब्ध १५६ क्रमांक की आयत (मं. ७/सि.२८/ सू. ६६/आ.१/५ का समीक्ष्य अंश पूरा तथा समीक्षा ३७वें संस्करण में उपलब्ध नहीं है। इसी आयत के समीक्षा भाग से - 'भला! जो अनेक स्त्रियां.... स्पष्ट विदित हो जायगा' तक का भाग अगली समीक्ष्य आयत -' ऐ नबी झगड़ा कर ... कर ऊपर उनके' की समीक्षा से पहले जोड़ दिया है।

इस प्रकार ३८वें संस्करण में एक समीक्ष्य तथा समीक्षांश अधिक है। तथा ३७वें में १५५ क्रम की आयत की समीक्षा भी ३८वें संस्करण की इसकी समीक्षा से भिन्न है।

हम देखते हैं कि श्री दैवकरणि जी ने ३७वें संस्करण में प्रचलित सत्यार्थ प्रकाश से जो विशद पाठ भेद किया है उसका स्पष्टीकरण नहीं दिया है। और जिस ३७वें संस्करण के एक-एक अक्षर को वर्षों तक महर्षि जी का बताते रहे (आज भी बता रहे हैं) उसमें ३८वें सं. (सन् १९९८) में पुनः पाठ भेद किये, इसी प्रकार इस संस्करण में १२वें समु. में नास्तिक-आस्तिक की शैली अपनाने में, १४वें समु. में २८वीं समीक्षा के बाद पुनः पूर्वपक्षी-उत्तरपक्षी का प्रकार रखने तथा पाद टिप्पणियां देने में **पुनः संस्करण दो का अनुकरण किया है।** परन्तु इस संस्करण में सम्पादक जी का

वक्तव्य आप देखें - क्या एक छोटा सा भी संकेत वहां है कि श्री दैवकरणि जी की राय ३७वें संस्करण के पाठों के बारे में क्यों परिवर्तित हुई? क्या यह एक सम्पादक का धर्म नहीं है? पर ऐसी मनोवृत्ति को आप क्या कह सकते हैं। **उनके अनुसार ३७वें का भी एक-एक अक्षर ऋषि का है और ३८वें का भी। सिर धुनना है तो सत्यार्थ प्रकाश प्रेमी धुनते रहें।** इस सीनाजोरी की कोई भी हद नहीं है। विरजानन्द जी स्वयं तो यह बात अपनी आत्मा में जानते ही हैं कि उन्होंने १९९२ के संस्करण के पश्चात्वर्ती संस्करणों में भी पुनः शोधन कार्य किया है। पर वे अभी भी पाठकों को यही विश्वास दिलाने में लगे हुए हैं कि उन्होंने १९९२ में शुद्ध संस्करण तैयार किया था। (द्रष्टव्य : सर्वहितकारी २१ अगस्त ०४)। कम से कम अब तो उन्हें इस असत्यवादन से विरत् रहना चाहिये। पर नहीं। वेद इसी को आत्म हनन कहता है।

श्री विरजानन्द जी की यह संशोधन यात्रा क्या यहां आकर रुक गई? नहीं! सन् २००३ तक भी यह जारी दिखाई देती है जब हम देखते हैं कि भगवती लेजर प्रिन्टर्स दिल्ली द्वारा छापे सत्यार्थ प्रकाश में भी, जो कि आदरणीय दैवकरणि जी द्वारा ही मूल से मिलान किया गया बताया गया है, ३८वें संस्करण की अपेक्षा से पाठ भेद पाये जाते हैं। १२वें समु. के पूर्व उद्धृत प्रकरण में सरसरी दृष्टि से जो दिख पड़े पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत हैं।

	३८वां संस्करण		**भगवती प्रिन्टर्स का सं. गुटका संस्करण**	
१.	करने वाली	(४१७/१)	कारक	(२७५/१)
२.	वाल्मीकीय	(४१७/३,४,७)	वाल्मीकि	(२७५/६,७,८)
३.	ग्रन्थों का **नाम** भी क्यों नहीं?	(४१७/१२)	ग्रन्थों का नाम लेख भी क्यों नहीं	(२७५/८)
४.	मित्रता से	(४१७/२५)	सहृदता से	(२७५/१८)
५.	**हमारी** मनुष्य जाति	(४१७/२५)	**हम** मनुष्य जाति	(२७५/१८)
६.	उन्नति कभी न **हो**	(४१७/२६)	उन्नति कभी न **होवे**	(२७५/१९)
७.	जैसा है, वैसा विचारे	(४१८/१४)	विचारें जैसा है, वैसा	(२७५/३२)
८.	पापी राजा हो उसको भी	(४२१/१४)	पापी राजा हो **जो** उसको भी	(२७७/२४)
९.	पशु मार के होम करना वेद में कहीं नहीं और मृतकों का श्राद्ध भी कपोलकल्पित होने से यह वेद विरुद्ध पुराण मत वालों का मत है।	(४२३/१९)	पशु मार के होम करना वेद मे कहीं नही है, इसलिए यह खण्डन और मृतकों का श्राद्ध भी कपोलकल्पित होने से वेद विरुद्ध पुराण मत वालों का मत है।	(२७८/३३-३४)
१०.	मत होने का कारण है	(४२४/१)	होने का कारण है	(२७९/८)
११.	इसके आगे जैन मत का विषय लिखा जायेगा, इसको जैन लोग मानते हैं	(४३०/१२-१३)	यहां से आगे जैनमत का वर्णन है इसको जैन लोग मानते हैं	(२८३/१४)
१२.	इसके आगे केवल जैनमत का वर्णन है	(पृ. ४३३)	जैन और बौद्धों की एकता	(पृ. २८५)
१३.	(इसके आगे मुसलमानों के मत विषय में लिखा जायेगा)	(पृ. ५४७)	(यह ईसाइयों के मत के विषय मे थोड़ा लिखा गया। इसके आगे मुसलमानों के विषय में लिखा जायेगा)	(पृ. ३६१)

नोटः- ३७वें व ३८वें संस्करण में ११वें समु. के अन्त में कोई पाद टिप्पणी नहीं परन्तु भगवती प्रिंटर्स में इस स्थान पर पंचम सं. की पं. लेखराम जी की टिप्पणी दे दी है। (पं. रतिराम जी, जीन्द के अनुसार- १६८३ में ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण सत्यार्थ प्रकाश के सम्पादक द्वय में एक श्री विरजानन्द जी थे तथा १६६४ में हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरूकुल झझ्जर द्वारा प्रकाशित सत्यार्थ प्रकाश के सम्पादक भी यही श्रीमान् हैं। घोर आश्चर्य! २० वर्ष के अन्तराल में छपे पांच सत्यार्थ प्रकाशों का सम्पादक एक व्यक्ति; पर सभी में परस्पर भी विशद् पाठ भेद) **यह है स्वेच्छाचारिता।**

उपर्युक्त तुलनपत्रों को देख सुधी पाठक सहज निश्चय कर सकेंगे कि अधिकांश पाठों में भेद करना नितान्त अनावश्यक है। इन पाठभेदों से अर्थ या भाव में कोई अन्तर नहीं आता। हां विद्वानों का अहं अवश्य संतुष्ट होता है।

कुछ विशिष्ट उदाहरण-

(१) चतुर्थ समु.

❖ द्वितीय सं., पृ. १०६, पं.३ पुरूष लड़कों को पढ़ावे तथा सुशिक्षिता स्त्री लड़कियों को पढ़ावे. . . यही पाठ यु.मी. में है!

❖ ३७ वां सं., पृ. ६८, पं. १८-१६

'. . .पुरूष लड़कों को पढ़ावे और सुशिक्षा करें तथा लड़कियों को स्त्री पढ़ावे!'

❖ ३८ वां सं., पृ. ११६, पं. २८-२६

'. . . पुरूष लड़कों को पढ़ावे और सुशिक्षा करें तथा लड़कियों को पढ़ावे!

❖ भगवती गुटका सं., पृ. ७६, पं. ३१

'. . . पुरूष लड़कों को पढ़ावे और सुशिक्षा करें तथा लड़कियों को स्त्री पढ़ावे! पाठक ध्यान से देखें/ द्वितीय संस्करण का पाठ निश्चित ही महर्षि सम्मत होने के साथ युक्तियुक्त भी है। पढ़ाने वाली स्त्री के साथ सुशिक्षिता लगा होना आवश्यक है क्योंकि वही पढ़ाने में समर्थ हो सकती है। अतएव ३७ वें सं. में इस सुशिक्षिता को हटाना अयुक्त है।

पुनः ३८वें संस्करण में लड़कियों की शिक्षा के क्रम में **'स्त्री' का प्रावधान हटा देना तो ऋषि अभिप्राय के विरूद्ध ही है।**

फिर एक और कलाबाजी भगवती संस्करण में 'स्त्री' को पुनः स्वीकार कर लिया है।

(२) सं. २, पृ. ११, पं. १७ संशोधन पत्र को साथ पढ़ने पर 'भूरसि. . . मा हिᳫसीः के पश्चात् **पुरूषंञ्जगत् पाठ नहीं है।**

❖ ३७वां सं., पृ. ११, पं. ७ उपरोक्त सं २ के अनुकूल ही पाठ स्वीकार किया है। मंत्र का पता यजु. अध्याय १३ मंत्र १८ दे दिया है।

❖ ३८वां सं., पृ १६, प.७ - उपरोक्त सं २ के अनुकूल पाठ है।

❖ भगवती गुटका सं. पृ १२, पं. २० यहां मंत्र के अन्त में 'पुरूषंञ्जगत्' को स्वीकार कर लिया है। **जबकि मूल मंत्र में यह पाठ है ही नहीं।**

(देखें वैदिक यन्त्रालय से छपी यजु. संहिता)

१९९१ से ऋषि के एक-एक अक्षर को पहचानने का दावा करने वाले दैवकरणि जी २००३ तक अभी अनिश्चय के घेरे में ही हैं।

(३) सप्तम समुल्लास का जीव के स्वतन्त्र कर्त्ता होने का प्रकरण देखें:-

❖ संस्करण २, पृ. १६२, पं. २४-२६

'. . . तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर **पाप के फल भोगता है** इसलिये कर्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप दुःखरूप फल भोगने में परतंत्र होता है।

❖ ३७वां संस्करण, पृ. १७२, पं. ११-१३

'. . . तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर **पाप भोगता है।** इसलिये कर्म करने में जीव स्वतंत्र और पाप के दुःख रूप फल भोगने में परतंत्र होता है।

पाठकगण गहरी स्याही के भाग पर ध्यान दें और स्वयं निर्णय करें कि जीव पाप के फल को भोगता है अथवा पाप भोगता है? निश्चय ही ३७वें संस्करण का पाठ दोषपूर्ण है। संस्करण २ का प्रशस्त है।

अभी और आगे देखिये-

❖ ३८वां संस्करण पृ. २०१, पं. २०-२२

'. . . तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप भोगता है। इसलिये कर्म करने और **फल भोगने में जीव स्वतंत्र** और पाप के दुःखरूप फल भोगने में परतंत्र होता है।'

लीजिए! देखें और चमत्कार। ३७वें संस्करण के दोष का तो परिहार किया नहीं अब फल भोगने में भी जीव को स्वतंत्र कर दिया। सब जीवों को मिलकर इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तन के लिये दैवकरणि जी का धन्यवाद करना चाहिए।

❖ भगवती सं. पृ. १३२, पं. ५-७ में संस्करण ३८ का पाठ ही है।

(४) ❖ संस्करण दो पृ.- ६५, पं. ८-१० पाठ इस प्रकार है-

'जब स्त्री फिर रजस्वला हो, तब शुद्ध होने के पश्चात् उसी प्रकार ऋतुदान देवें।'

❖ सं. ३७ में इसे इस प्रकार किया है। (पृ. ८७, पं. ७-८)

'पश्चात् जब **दूसरे महीने** में रजस्वला हो तब शुद्ध होने पर उसी प्रकार ऋतुदान देवें।'

यहां पर प्रसूति पश्चात् **दूसरे महीने** में रजस्वला होने पर ऋतुदान की बात कही गई है जबकि आयुर्विज्ञान विशेषज्ञों के अनुसार स्त्री प्रसूति पश्चात् दूसरे माह में ऋतुमती हो **यह आवश्यक नहीं है।** अतएव दूसरे संस्करण का पाठ सर्वथा शुद्ध है। दूसरे महीने की बात मनमाने रूप से डाल के दैवकरणि जी ने अशुद्ध कर दिया है।

(५) सं. ३७, पृ. ३०, पं. ३०- 'तब से अन्धे और लुच्चे बालते हैं कि'। 'यह अन्धे और लुच्चे' श्री विरजानन्द जी द्वारा बढ़ाया गया है। जबकि संस्करण २ में 'वे बोलते हैं' इस प्रकार पाठ है (सं. २, पृ. ३१, पं. ५)। श्री विरजानन्द जी बतावें इस पाठ परिवर्तन से उन्होंने किस प्रकार सत्यार्थ प्रकाश की शोभाश्री में वृद्धि की है?

(६) जैसा कि हमने पूर्व में भी लिखा है श्री दैवकरणि जी ने ३७वें संस्करण में ग्यारहवें समुल्लास के अन्त में दिये गये राजाओं के कार्यकाल के विस्तार से संबंधित अवधि में भारी फेरबदल किये थे। इन्हीं दैवकरणि ने ३८वें संस्करण में **पुनः ऋषि प्रणीत संस्करण २ के पाठ स्वीकार कर लिये,** पर दो स्थलों पर यहां भी परिवर्तित पाठ रख दिये। ऐसा क्यों किया, ये बार-बार परिवर्तन क्यों? यह पूछने का किसी को अधिकार नहीं क्योंकि संस्करण के प्रारम्भ में ही कह दिया '. . . इसी संस्करण का आश्रय लें और व्यर्थ के वाद विवाद को प्रश्रय न दें।' (३८ सं., पृ. ४, अन्तिम पंक्ति)

ईश्वर ही जानता है कि इन महान् शोधकर्त्ता की कलाबाजियों से परोपकारिणी सभा के अधिकारी एवं मान्य सदस्यगण अनभिज्ञ हैं और ये उन्हें भ्रम में रखने में सफल हुये हैं? अथवा सभाधिकारी तथा मूर्धन्य आर्य विद्वान् जान बूझकर चुप हैं?

इस प्रकार स्वयं के ही द्वारा सम्पादित संस्करणों में एकरूप पाठ निश्चय कर पाने में पूर्णतः विफल रहे **श्री दैवकरणि जी का यह दावा तो खण्डित ही है कि उन्होंने एक-एक ऋषि-प्रणीत अक्षर की पहचान कर ली है** परन्तु अब हमको यह निश्चय हो गया है कि दैवकरणि जी के तथाकथित शुद्धतम संस्करणों में सैंकड़ों अयुक्त पाठ हैं। अगर श्री दैवकरणि जी इससे असहमत हों तो दोनों पाण्डुलिपियों की प्रति हमें दें, हम निश्चय से प्रमाणित कर देंगे।

विद्वद्जनों के संशोधनों से सत्यार्थ प्रकाश की एक रूपता को किस प्रकार नुकसान पहुंचा है एकाध उदाहरण देखें -

(१) सप्तम समुल्लास

❖ अर्थात् जिस-जिस दोष व दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मान के परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है वह विधि निषेधमुख होने से सगुण निर्गुण प्रार्थना।

(सं. २ पृ. १८६ पं. ७-६)
व (आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक)

❖ अर्थात् जिस-जिस दोष व दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मान के प्रार्थना की जाती है, वह विधि निषेधमुख होने से सगुण निर्गुण प्रार्थना।

(सं. ३७ पृ. १६५ अन्तिम पंक्ति एवं १६६ प्रथम पंक्ति)
व (सं. ३८, भगवती प्रिंटर्स)

- अर्थात् **जिस-जिस गुण से युक्त परमेश्वर को मान तथा उन गुणों को अपने में धारण कराने के लिये और** जिस-जिस दोष व दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मान के परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है, वह विधि-निषेध मुख होने से सगुण-निर्गुण प्रार्थना कहाती है। (पू. स्वामी जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती - पृ. १३३, पं २०-२२)

  (पू. स्वामी विद्यानन्द जी के सत्यार्थ भास्कर में भी यही पाठ है। इस व्यापक पाठ भेद को भाव स्पष्ट करने वाला तो माना जा सकता है पर सत्यार्थ प्रकाश में पहली पंक्ति को समाविष्ट करने का आधार क्या है?)

- अर्थात् (**जिस-जिस दोष व दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को युक्त अथवा**) जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मान के परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है वह विधि-निषेधमुख होने से सगुण निर्गुण प्रार्थना।

  (सार्व. सभा द्वारा प्रकाशित सत्यार्थ प्रकाश (जनवरी २००२) - **यहां महाभ्रष्ट सिद्धान्तहीन पाठ भेद है।**)

(२) सप्तम समुल्लास

- और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देखके कारण का अनुमान होता है।

  पं. यु. मी. २५६-२६०/, स्वामी विद्यानन्द जी ६६६/१-३,
  सं. २ पृ. १८०-८१, सार्व. १७०, आर्ष. ११८

- और जब जीवात्मा **शुद्ध होके** शुद्धान्तःकरण से युक्त योगी समाधिस्थ होकर आत्मा और परमात्मा का विचार करने में तत्पर **रहता** है तब उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देख के कारण का, नियमों को देख के नियन्ता का, सृष्टि को देखकर स्रष्टा का अनुमान होता है। - ३८वां १८६/३

  नोट - ३७वें संस्करण (१६०/२९-३३) में गहरी स्याही में छपे शब्द उपलब्ध नहीं हैं।

- और जब जीवात्मा शुद्धान्तःकरण से युक्त और समाधिस्थ होके आत्मा और परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, तब उसे उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर का ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देखके कारण का अनुमान होता है। स्वामी जगदीश्वरानन्द जी १२६/१०

(३) पंचम समुल्लास

- २ संस्करण पृ. १३४ पं. - (२१-२३)

  'जो ब्रह्म और जिसमें दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो वह संन्यासी कहलाता है।

❖ पं. युधिष्ठिर - पृ. १६४ पं. १७ - जो ब्रह्म और (उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित वह संन्यास, और) जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय, वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो वह संन्यासी कहलाता है।

नोट - उक्त पाठ में ( ) के अन्तर्गत पाठ के प्रारम्भ में और अन्त में दोनों जगह 'और' है अतः प्रथम 'और' कम्पोज करने के पश्चात् दृष्टि दोष से कम्पोजीटर दूसरे 'और' के बाद का पाठ कम्पोज कर गया। ऐसी भूल होना अस्वाभाविक अथवा आश्चर्यजनक नहीं है। आजकल की कम्प्यूटर टाइपिंग में भी कई बार ऐसा हो जाता है। हमें लगता है यह पूरा पाठ प्रेस प्रति में होना चाहिये।

❖ ३७वां संस्करण - पृ. १२२ पं. ४ - 'जो ब्रह्म और उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित और जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय वह संन्यास, और वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो, वह संन्यासी कहाता है।

(आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट तथा सार्व. सभा सं. में लगभग यही पाठ है।)

नोट - ३८वें सं. में ३७वें की अपेक्षा 'और' (दूसरी पंक्ति अन्तिम) हटा दिया है।

❖ जो ब्रह्म और उसकी आज्ञा में **नित्य, सम्यक** उपविष्ट अर्थात् स्थित **रहना, तथा** जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय **वह उत्तम संन्यास जिसमें हो, वह संन्यासी कहलाता है**। (पू. स्वामी जगदीश्वरानन्द जी पृ. ६७ पं. १६-२०)

नोट - पू. स्वामी विद्यानन्द जी ने उपरोक्त पाठ रखा है पर प्रथम पंक्ति में 'रहना' के स्थान पर 'होना', व 'तथा' के स्थान पर 'और' व द्वितीय पंक्ति में 'संन्यास' के स्थान पर 'स्वभाव' रखा है।

(४) १२वां समुल्लास

१२वें समुल्लास में नास्तिक-आस्तिक संवाद है। इसमें नास्तिक पूर्वपक्षी है तथा आस्तिक उत्तरपक्षी है। अगर इन जोड़ों को क्रम संख्या दी जावे तो **द्वितीय संस्करण में ऐसे ११ जोड़े हैं**। पू. स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित सं., स्वामी विद्यानन्द जी के (सत्यार्थ भास्कर) में भी ११ ही जोड़े हैं।

परन्तु आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट तथा सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित सत्यार्थ प्रकाश में **ऐसे १२ जोड़े हैं। क्रमांक ४ का नास्तिक का प्रश्न** तथा **आस्तिक का उत्तर पूर्वोक्त संस्करणों में नहीं है**।

यह इस प्रकार है - 'नास्तिक - ईश्वर ने जगत् का अधिपतित्त्व. . . स्वीकार किया'। आस्तिक - 'ईश्वर ने कभी अधिपतित्त्व **न** छोड़ा था . . ईश्वर में नहीं'।

३७वें, ३८वें संस्करणों में पृथक् ही स्थिति है। यहां ऐसे जोड़ों की कुल संख्या तो **११ ही** है परन्तु यह १२ न होकर ११ इस कारण से रह पायी है क्योंकि क्रम संख्या **४ व ५ के नास्तिक**

कथन तथा आस्तिक कथनों को जोड़कर एक संवाद के रुप में प्रस्तुत कर दिया है। व्यापक पाठ भेद भी हैं।

इसी प्रकार ३ क्रमांक के नास्तिक आस्तिक संवाद में आस्तिक का जो उत्तर है उसमें सार्वदेशिक तथा आर्ष साहित्य प्रकाशन के सत्यार्थ प्रकाश में एक पंक्ति -'**जैसे आकाश सब में बराबर है, पृथ्वी आदि के अवयव बराबर नहीं वैसे परमेश्वर के बराबर कोई नहीं**' अधिक है। यह पंक्ति (पाठ) ३७वें व ३८वें संस्करणों में भी है। पर संस्करण २ तथा स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, स्वामी विद्यानन्द जी (सत्यार्थ भास्कर) एवं पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित सत्यार्थ प्रकाश में नहीं है।

नोट- उपरोक्त तुलनपत्रों में उद्धृत पं. संख्या आदि भूलवश अशुद्ध हों तो हम क्षमाप्रार्थी हैं।

अब पाठक गण बताऐं यह कौन निश्चित करेगा कि किस विद्वान् का पाठ स्वीकृत किया जावे? ये तो सभी अपने पाठ को शुद्ध बता रहे हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जितने विद्वानों को सत्यार्थ प्रकाश शुद्धिकरण का कार्य आप देंगे, उतने ही भिन्न-भिन्न वाक्य विन्यासों से युक्त सत्यार्थ प्रकाश हमारे सम्मुख होंगे। इस समय हमारे समक्ष 'परोपकारी' मासिक का सितम्बर २००४ अंक है। इसमें आदरणीय श्री मोहनचन्द जी का लेख है। इसमें सत्यार्थ प्रकाश के कतिपय पाठों के संदर्भ में मूल (रफ) प्रति, प्रेस प्रति, द्वितीय संस्करण व ३७वें व ३८वें संस्करण के उद्धरण देकर किसी स्थल पर एक के, व अन्य स्थल पर दूसरे के पाठों को उचित बताया है। कहीं-कहीं तो उपरोक्त सभी (पाण्डुलिपियों व संस्करणों) के पाठों को अस्पष्ट बताया है एवं शुद्ध पाठ सुझाया है। यह श्री मोहनचन्द जी की सम्मति है। इसी प्रकार आप जितने विद्वानों से सम्मति मांगिये सभी भिन्न राय देंगे। शायद श्री मोहनचन्द जी सही हों, पर प्रश्न उनके सही होने का नहीं, **महर्षि के ग्रन्थ में संशोधन के अधिकार का है। वह किसी को भी नहीं हो सकता।** क्लिष्ट स्थलों की पृथक् परिशिष्ट में विद्वान् व्याख्या करें। अन्यथा प्रत्येक विद्वान् का समाधान पृथक् होने से सत्यार्थ प्रकाश की एकरुपता कदापि सम्भव नहीं। आप किसी भी विद्वान् को अन्य लेखक की रचना दे दीजिए वह कहीं न कहीं उसका सौन्दर्यीकरण, सौष्ठववृद्धि के नाम पर पाठभेद सुझा देगा। पर मूल लेखक को क्या यह रुचिकर होगा? कदापि नहीं। **तो फिर महर्षि के सत्यार्थ प्रकाश के साथ ही अन्याय क्यों?**

इस प्रकार सत्यार्थ प्रकाश के विभिन्न संस्करणों में 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' का कमाल प्रत्यक्ष है। दुर्भाग्य यह है आज यह कहकर सम्बोधित करना पड़ता है कि स्वामी जगदीश्वरानन्द जी के सत्यार्थ प्रकाश में, अथवा परोपकारिणी के ३७वें संस्करण में, युधिष्ठिर जी मीमांसक के अथवा वेदानन्द जी के सत्यार्थ प्रकाश में, भगवद्दत्त संस्करण में। न जाने कब केवल इतना उद्धृत करने से काम चल जायगा कि '**ऋषि प्रणीत सत्यार्थ प्रकाश में।**' कहां तक लिखा जावे, विद्वद्जन्य अहंकार एवं पूर्वाग्रहों से जन्मे ऐसे अनेकों पाठभेदों के उदाहरण उपस्थित हैं, जिन्होंने सत्यार्थ प्रकाश की एकरुपता को सर्वथा विनष्ट कर दिया है, यह आर्यजगत् का दुर्भाग्य ही है। **इससे भी ज्यादा दुर्भाग्य है कि जिसने जो कर दिया वह उसी पर अड़ा हुआ**

है, सत्य तक पहुंच उसका अनुसरण करने का प्रयास न करने की इस प्रवृत्ति को आर्य विद्वानों, सभा के अधिकारियों को छोड़ना होगा, सत्यार्थ प्रकाश के हित में छोड़ना होगा, आर्य समाज के हित में छोड़ना होगा, ऋषि-निष्ठा के कारण छोड़ना होगा।

हमने पूर्व में भी लिखा है कि संशोधन की प्रक्रिया न रोकी गयी तो न जाने कितने सत्यार्थ प्रकाश सामने आएंगे। व्यापक पाठ भेद के सिलसिले का प्रारम्भ स्वयं ऋषि की उत्तराधिकारिणी और स्थानापन्न सभा ने १६६१ में कर दिया इसमें भी विशेष यह कि पाठकों को सत्य से कहीं भी सम्पादकीय आदि में परिचित नहीं कराया गया। **इसी शैली ने स्वामी जगदीश्वरानन्द जी को प्रोत्साहित किया होगा।** १६६५ में उन्होंने अभिनव संस्करण प्रकाशित किया। आम आर्यजनों को तो सम्भवतः ज्ञात ही नहीं कि स्वामी जी ने इसमें क्या-क्या फेरबदल किया है। **क्योंकि स्वामी जी ने अपने इस कर्त्तव्य का पालन नहीं किया कि वे 'दो शब्द' में लिखते कि उन्होंने क्या-क्या किया है।** हमें भी क्रमशः जैसे-जैसे देखते जा रहे हैं, पता चलता जा रहा है और व्यथा भी इतनी बढ़ती जा रही है कि हम वर्णन नहीं कर सकते। जब हमने 'आपको कौनसा सत्यार्थ प्रकाश चाहिये' लेख लिखा था तब इस संस्करण के बारे में अत्यल्प जानकारी थी। पश्चात् जब स्वामी जगदीश्वरानन्द जी को पत्र लिखा (आगे उद्धृत है) तब तक पता चला कि कितने ही प्रकरण स्वामी जी ने निकाल दिये हैं। और अब जब यह लेख लिख रहे हैं नियोग प्रकरण की तुलना करके देख रहे हैं तो हमारी अवस्था ऐसी है जैसे किसी को आसमान से जमीन पर पटक दिया जाय। श्रद्धा से सम्पूरित इस हृदय में अब रिक्तता आ रही है। इन परिवर्तनों से अच्छा तो यह होता स्वामी जी अपने संस्करण का नाम पृथक् से पुस्तक प्रकाशित कर, 'सत्यार्थ प्रकाश की समालोचना' जैसा कुछ रखते। सत्यार्थ प्रकाश के जिन सिद्धान्तों पर विगत १०० वर्षों में विपक्षी पण्डित निरन्तर आक्रमण करके भी विजय प्राप्त न कर सके क्योंकि आर्य विद्वानों विशेषकर पं. मीरपुरी जी व पं. मनसाराम जी जैसे विद्वानों ने अपनी पूर्ण क्षमता के साथ न केवल इन सिद्धान्तों वरन् सत्यार्थ प्रकाश की एक-एक मान्यताओं को वेदानुकूल सिद्ध किया था, उन्हीं प्रकरणों को जिन पर शंका कर विपक्षी ध्वस्त हो गये, ऋषिभक्त कहलाने वाले हमारे अपने स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने अपने तथाकथित अभिनव संस्करण में से मनमाने ढंग से गायब कर के प्रकारान्तर से यह स्वीकार कर लिया कि वे विपक्षी सही थे व ये प्रकरण सत्यार्थ प्रकाश में रखने योग्य नहीं हैं। यह आर्यजगत् का दुर्भाग्य नहीं है तो और क्या है?

नियोग प्रकरण को स्वामी जी ने पूरी बेरहमी से मनमर्जी से काट छांट दिया है। **ऋषि ने इस सिद्धान्त के समर्थन में जो वेदमंत्र तथा मनु के श्लोक दिये हैं उन सबको भाषार्थ सहित गायब कर दिया।** हमें वे लिखते हैं- क्या सत्यार्थ प्रकाश १५-१६ वर्ष की आपकी पुत्री पढ़ सकती है? यद्यपि उनके प्रश्न का उत्तर निःसंकोच हाँ में है पर हमें उनके प्रश्न पर ही आश्चर्य है। उनका मत है कि ऐसे प्रकरणों के रहते सत्यार्थ प्रकाश को सब, विशेषकर किशोर वय के बालक बालिका, नहीं पढ़ सकते। अतः उन्होंने अपनी सम्पादकीय कैंची से सत्यार्थ प्रकाश को सर्वग्राह्य बना दिया है। हमारा निवेदन है कि ये सिद्धान्त वेद तथा मनु द्वारा समर्थित हैं। ऋषि के वेदभाष्य में उपस्थित हैं। इनका शोधन वे कब तक कर रहे हैं? तब तक तो वे सम्भवतः ऋषि के वेदभाष्य

को भी एक विशेष आयु प्राप्त करने के पश्चात् पढ़ाने की स्वीकृति देंगे। स्वामी जी में अगर अपने कार्य के प्रति आत्मविश्वास है तो सत्यार्थ प्रकाश के दे सब स्थल जिन्हें स्वामी जी ने निकाल दिया है उनकी आलोचना में पृथक् से पुस्तक लिखनी चाहिये थी। स्वा. जगदीश्वरानन्द जी की शैली के अनुसार तो ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के वे प्रकरण भी निकाल देने चाहिये जहाँ महर्षि ने महीधर वेदभाष्य की समीक्षा की है। कारण- महीधर पक्ष चाहे पूर्वपक्ष ही सही पर अत्यन्त अश्लील है। स्वामी जी ने हमें लिखा है कि वे महर्षि के ग्रन्थों को सर्वांग सुन्दर रुप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। क्या यही उसका प्रकार है? ऐसी ऋषि भक्ति को दूर से नमन !

एक और निश्चय हो रहा है कि आर्य समाज मृत हो रहा है यही कारण है कि उनके आस्था के केन्द्र ग्रन्थ रत्न के साथ यह सब हो रहा है और कहीं प्याले में भी तूफान नहीं। गत एक वर्ष में विद्वानों की सेवा में निवेदन करते करते कुछ ऐसा भी अनुभव हो रहा है कि अनेक प्रश्नों पर आसमान सिर पर उठाने वाले पूज्य विद्वत् वृन्द में से अनेक मूर्धन्यों की इस संबंध में चुप्पी (न सकारात्मक, न नकारात्मक प्रतिक्रिया) उनके निष्पक्ष चिन्तन व ऋषि मिशन के प्रति प्रतिबद्धता पर प्रश्न चिन्ह उपस्थित कर रही है। अनेकों द्वारा ऋषि ग्रन्थों की सुरक्षा से अधिक मित्रता का निर्वहन ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझा जा रहा है।

यह भी पाठकों की सेवा में निवेदन कर दूँ कि स्वामी जगदीश्वरानन्द जी का विचार है ऋषि के सभी ग्रन्थों में सुधार होना चाहिये। उनके सुधार का प्रकार हमारे समक्ष है। आर्यों के दुर्भाग्य की गहराई का पता नहीं, अभी भविष्य में कितने सुधारे हुए ऋषि ग्रन्थ हमारे सामने आयेंगे। **जो कार्य विपक्षीगण १०० वर्ष से भी अधिक समय तक निरन्तर प्रयास करके भी नहीं कर पाये वह हमारे अपनों द्वारा पूर्ण हो रहा है।**

पूज्य स्वामी जगदीश्वरानन्द जी अपने सत्यार्थ प्रकाश में पृ.२६८ पर टिप्पणी में लिखते हैं-'क्या किसी भी वेद में गेंडे को मारकर हवन करना दिखलाया जा सकता है? कदापि नहीं। तब क्या सिख उसे ग्रन्थ साहिब से निकाल देंगे? **यदि नहीं तो स्वामी जी के वचन भी नहीं निकाले जा सकते।**' हमारा परम सौभाग्य होता यदि पूज्य स्वामी जी गहरी स्याही में छापे वाक्य पर स्वयं दृढ़ रहते। परन्तु दुर्भाग्य! वे स्वयं सत्यार्थ प्रकाश से ऋषि वचन थोक के भाव निकालने में तनिक भी संकोच नहीं करते। कारण स्पष्ट है- वे जानते हैं कि गुरुग्रन्थ साहिब में तनिक सा भी परिवर्तन करने पर परिवर्तनकर्त्ता की खैर नहीं। पर आर्य समाज में यह भय नहीं। यहाँ सत्यार्थ प्रकाश जैसे ग्रन्थ रत्न को मन चाहा स्वरुप प्रदान कीजिए और लगे हाथ परमहंस की पदवी प्राप्त कीजिए।

हमें बताया गया है कि गाजियाबाद में हुए एक शास्त्रार्थ में स्वामी जी ने अपनी भूल स्वीकार की थी पर अभी हमें लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि स्वामी जी अभी भी अपने 'ऋषि ग्रन्थ सुधार' कार्यक्रम को सर्वथा उचित मानते हैं। विद्वानों की ऐसी हठवादिता के कारण आर्य समाज को अकल्पनीय हानि हो रही है।

इस लेख में हमने श्री विरजानन्द जी दैवकरणि द्वारा किये गये कार्य तथा स्वामी जगदीश्वरानन्द जी के रूपान्तरण की वास्तविकता को रखने का प्रयास किया है। ३७वें संस्करण

को देखकर पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने एक लेख लिखा था उसके महत्त्वपूर्ण अंश पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत हैं। यह इस कारण भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि श्री दैवकरणि जी ने दावा किया है कि पं. युधिष्ठिर जी उनके कार्य से सहमत हो गये थे।

(१) इस लेख का शीर्षक पं.जी ने रखा- ऋषि भक्त आर्य जनता सावधान ! परोपकारिणी सभा द्वारा १०५ वर्षों के पश्चात् सत्यार्थ प्रकाश में अवांछनीय परिवर्तन।

(२) **सत्यार्थ प्रकाश और ऋषि दयानन्द के साथ इस १९९१ में छपे ३७ वें संस्करण में ऋषि दयानन्द द्वारा संस्थापित सभा ने जैसा क्रूर व्यवहार किया है, वैसा तो आर्य समाज के विरोधी पं. कालूराम ने सन् १८७५ के सत्यार्थ प्रकाश को छापने में भी नहीं किया। उसने १८७५ के सत्यार्थ प्रकाश को अक्षरशः छापा।**

(३) इसी प्रकार १४ वें समु. में जो ऋषि दयानन्द के बाद छपा, कुछ समीक्षाऐं समर्थदान ने काट दी थीं। उन्हें इस संस्करण(३७ वां) में पुनः प्रविष्ट कर दिया गया है। इस कटी हुयी आयतों के सम्बंध में जब श्री पं. महेश प्रसाद जी मौलवी आलिम फाजिल (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अरबी-फारसी विभाग के अध्यक्ष) को दीवान बहादुर श्री हरविलास सारडा जी ने १९४४ में १४वें समुल्लास के संशोधन के लिए बुलाया था, तब भी विचार हुआ था। श्री पं. महेश प्रसाद जी ने स्पष्ट कहा था, इन्हें न छापा जाये। **मैं उस समय परोपकारिणी सभा में ही काम करता था।** अतः यह घटना मेरे सामने की है।

(४) जब मैंने गत अगस्त (१९९१) में इस छपे संस्करण को देखा था, तब सभा के मंत्री जी का ही वक्तव्य छपा था। अब जो प्रकाशित हुआ है उसमें मंत्री जी का वक्तव्य भी बदला हुआ है, श्री दैवकरणि जी का जोड़ा गया है। आरम्भ के पृष्ठ बदले गये हैं, जो चिपकाये गये हैं।

(५) इससे अत्यन्त स्पष्ट है कि आरम्भ के १४ पृष्ट, जिनमें ग्रन्थ का प्रथम फार्म भी है, बदल कर छापा गया है। साधारण जन इसे नहीं समझ सकते, परन्तु मुझ जैसे व्यक्ति से यह नहीं छिप सकता।

(६) यदि सभा के अधिकारियों को सत्यार्थ प्रकाश के साथ किये गये मजाक से कुछ भी ग्लानि हो, अपनी भूल उन्हें प्रतीत हो तो **इस संस्करण को जला देना चाहिये।**

(७) जिस व्यक्ति को सत्यार्थ प्रकाश के इतिहास का ज्ञान नहीं और न स्वयं लेखक होने से रफकापी और प्रेसकापी के भेद का ज्ञान है, उसके द्वारा यदि कोई कार्य किया जाएगा तो ऐसा ही परिणाम होगा। परमात्मा करे सभा के अधिकारियों को समय रहते सुबुद्धि आवे। (वेदवाणी, फरवरी १९९२)। पं. विरजानन्द जी ने 'पथ प्रदर्शिका' के अपने लेख में हमारी योग्यता का उपहास उड़ाया है, परन्तु हमने तो कभी विद्वान् होने का दावा किया ही नहीं। परन्तु अपनी पाण्डुलिपि विशेषज्ञता का ढोल पीटने वाले पं. दैवकरणि जी के बारे में मूर्धन्य विद्वान् पं. युधिष्ठिर जी के क्या विचार हैं वे जान लें। और यह भी कि विद्वता का आतंक दिखाकर सत्य का गला नहीं घोटा जा सकता। परो. सभा ने पाण्डुलिपि विशेषज्ञ को ढूंढा

पर यहां हमारी तुच्छमति में यह कार्य पाण्डुलिपि विशेषज्ञ का नहीं वरन् दयानन्द वाङ्मय में निष्णात् विद्वान् का है। ऐसे अनेकों विद्वान् हैं जिनमें पू. पं. विशुद्धानन्द जी, डॉ. भवानी लाल भारतीय व प्रा. राजेन्द्र जी जिज्ञासु का नाम निःसंकोच लिया जा सकता है।

द्वितीय संस्करण की समस्याएं

उपर्युक्त आलेख तथा इस निश्चित मत कि द्वितीय संस्करण में स्पष्ट मुद्रण भूलों को छोड़ किसी भी प्रकार के परिवर्तन का अधिकर किसी को भी नहीं है, के बावजूद भी हम यह नहीं कह सकते कि द्वितीय संस्करण में कोई समस्या ही नहीं है। समस्याएं निश्चित रुप से हैं। इनको निम्न प्रकार से वर्गीकृत कर कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

(क) उद्धृत वचन, मंत्र, श्लोक, मूल ग्रन्थों में पाये जाने वाले पाठ से अक्षरशः नहीं मिलते। अर्थात् महर्षि जी ने स्मृति बल पर अभिप्राय मात्र दिया है।

(१) यथा - 'त्र्यस्त्रिशत्त्रिशता - इत्यादि वेद में प्रमाण है। (सं.२; ७ समु., पृ. १७६, पं. ४) पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने इसका पता यजु. १४/३१ दिया है। वहाँ पाठ निम्न प्रकार है - त्र्यस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन्...।'

(२) 'लोकैषणायाश्च... पुत्रैषणायाश्चोत्थायाथ...' शतपथ का. १४ का वचन उद्धृत है। (सं.२, ५ समु. पृ. १२८, पं.११) परन्तु शतपथ में 'पुत्रैषणायाश्चव्युत्थाय (१४/६/४/१) यह पाठ है।

{नोट - ३७वें संस्करण में प्रमाणों की सूची अन्त में देकर (जो कि एक स्तुत्य कार्य है) पूरे प्रमाण पते दिए हैं पर वहाँ उक्त वचन का 'पता' दिया ही नहीं है जबकि महर्षि ने 'शतपथ के १४वें काण्ड' का बताया है।}

(३) अष्टम समु. 'मनुष्या ऋषयश्चये' 'ततो मनुष्या अजायन्त - यह यजुर्वेद में लिखा है।' (सं.२, पृ.२२३, पं.१०)। यहाँ विचारणीय है यजु. ३१/६ में 'साध्याऽऋषयश्चये' पाठ है।

(४) सं.२ में ६ समु. पृ. १७६ पं. १५ 'लोक दृष्टैश्च' है। यही पाठ ३७ में भी रखा गया है। मनु ८/३ में 'देशदृष्टैश्च' है। पृ.१६६ पर यह श्लोक सही है।

(५) सं २ में ७ समु. में (पृ. १६३ पं. २०) '... सुख दुःखे इच्छा द्वेषौ प्रयत्नाश्चात्मानो लिंगानि।।' पाठ है। सं. ३७ में भी यही पाठ है। वैशेषिक दर्शन ३/२/४ के अनुसार - 'सुखदुखेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चात्मानो।' है। तृतीय समु. में सही पाठ छपा है।

(६) सं. २ में (६ समु., पृ. १७२, पं. २५) 'हरेदस्य' पाठ है। सं. ३७ में भी यही है। मनु ८/३३४ में 'हरेत्तस्य' पाठ है।

(७) सं. २ में (६ समु., पृ. १७३, पं. १२) 'समुत्सृर्जत्' पाठ है। सं. ३७ में समुत्सृजेत् है। मनु ८/३४७ में 'समुत्सृजेत्' है।

(ट) सं. २ में (६ समु., पृ. १७४, पं. २५) 'भर्त्तारंलंघयेद् या स्त्री स्वज्ञातिगुणदर्पिता' पाठ है। यही सं. ३७ में भी है। मनु ८/३७१ में ' भर्त्तारंलंघयेद् या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता' है।

ऐसे ही अन्य स्थल भी हो सकते हैं। हमारी तुच्छ मति में मूल ग्रन्थ में ऐसे दोषों का निवारण तब तक नहीं करना चाहिये जब तक कि पाण्डुलिपियों अथवा महर्षि के अन्य ग्रन्थों में शुद्ध पाठ उपलब्ध न हो। संशोधन का ऐसा कोई आधार उपलब्ध न होने पर ग्रन्थ के परिशिष्ट में वर्तमान ग्रन्थों में पाये जाने वाला पाठ दे देना चाहिये, क्योंकि हो सकता है महर्षि को उपलब्ध पुस्तकों में पाठ वही हो जो उन्होंने दिया है अथवा अभिप्राय मात्र देने हेतु उनके द्वारा ऊहित हो।

(ख) **पाठ का छूटना** - यद्यपि यह ऐसी मुद्रण त्रुटि है कि एकाध शब्द का छूटना स्वाध्यायशील पाठक को स्वयं प्रतीत हो जाता है। परन्तु सत्यार्थ प्रकाश एक प्रामाणिक ग्रन्थ है उसमें ऐसे सुधार करने की छूट होने पर वाक्य रचना की स्वानुकूलता के आधार पर असंख्य पाठभेद संभव हैं। अतएव शब्द वृद्धि अथवा कटौती की छूट नहीं होनी चाहिये। टिप्पणी (ग्रन्थ के अन्त में) देकर अथवा शुद्धिपत्र (जहां पर स्पष्ट उल्लेख हो कि यह शुद्धि पत्र अमुक अधिकृत सभा के निर्देशन में अमुक-अमुक विद्वानों की समिति द्वारा तैयार किया गया है) में ऐसी भूलों का उल्लेख किया जा सकता है।

कई बार पूरी की पूरी पंक्ति भी रह जाती है। उदाहरण के तौर पर सं.२ में पृ. १३४ पं. (२१-२३) में एक पंक्ति/वाक्य 'उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित वह संन्यास, और' दृष्टि दोष के कारण **छूटी प्रतीत** होती है। क्योंकि इस छूटे हुए भाग के प्रारम्भ तथा अन्त में 'और' होने से यह हुआ है ऐसा लगता है।

इस प्रकार की भूल प्रायः देखने में आती हैं। एक उदाहरण - तपोभूमि मासिक (मथुरा) के अप्रैल ०४ अंक में हमारे एक लेख के अन्तर्गत् एक पंक्ति इस प्रकार छपी - 'स्वामी जी (महर्षि दयानन्द) जन्मगत् जाति व्यवस्था को सामाजिक समरसता हेतु आवश्यक मानते थे।' - पाठकगण विचार करें - क्या महर्षि दयानन्द जिनका पूर्ण प्रयास वर्ण व्यवस्था की स्थापना तथा जन्मगत् जाति-पाँति को ध्वस्त करने में रहा, उनके सम्बन्ध में उपरोक्त कथन सत्य हो सकता है? कदापि नहीं। स्पष्ट है यहां कुछ मुद्रण भूल हुई है। वस्तुतः मूल लेख की एक पंक्ति यहां छूट गयी है। पूरा पाठ इस प्रकार था - 'स्वामी जी जन्मगत् जाति व्यवस्था **के घोर विरोधी थे तथा इसे वेद विरुद्ध मानते थे। वेद प्रणीत वर्ण व्यवस्था** को सामाजिक समरसता हेतु आवश्यक मानते थे।' गहरी स्याही में छपी पंक्ति छूट जाने का कारण छूटी पंक्ति के आरम्भ और अन्त में 'व्यवस्था' शब्द का होना है जिसके कारण कम्पोजीटर से यह भूल हुई। **ऐसे स्थलों पर पाण्डुलिपियां परम सहायक हो सकती हैं। परन्तु उनका प्रयोग केवल और केवल स्पष्ट अशुद्धियों/असैद्धान्तिक मान्यता के निवारणार्थ होना चाहिये न कि इनके आधार पर व्यर्थ के व्यापक पाठभेद हेतु। और इनके आधार पर किए गये शुद्धि कार्य का आधार भी स्पष्ट दर्शा देना चाहिये।**

(ग) मुद्रण भूल अथवा ओवर साइट के कारण प्रमाण पता गलत छपना। यथा -

(१) उत शूद्रे उत आर्ये - यह भी ऋग्वेद का प्रमाण है (सं.२, ८ समु. २२५, पं.८) (जबकि यह मंत्रांश अथर्ववेद में है)

(२) विविधानि च रत्नानि...। मनु.। (सं. २, ५वां समु. पृ. १३५, प.१८)। मनु. में यह नहीं है।

(घ) महर्षि जी द्वारा अनेकत्र प्रस्तुत सिद्धान्त/तथ्यों से विपरीत पाठ उपलब्ध हैं। यथा -

(१) नवम समु. में मुक्ति की अवधि - पृ. २४१ पं. २१... ३६००० के स्थान पर तीन लाख साठ हजार पाठ है।

(२) नवम समु. पृ. २४२ पं. २० 'यह दूसरा और भौतिक - यहां अभौतिक होना चाहिये यही ऋषि मान्यता है।

(३) सप्तम समुल्लास सं.२ पृ. १६७ पं. २५ '....... ब्रह्म तथा माया और **विद्या** के योग के बिना...।' यहां विद्या के स्थान पर **अविद्या** होना चाहिये। ३७वें सं. में सही है।

यहां शुद्ध करना आवश्यक ही है। **शुद्धिपत्र में देना अधिक उपयुक्त होगा।**

(ङ) पाठ का ऊपर नीचे/अस्थान पर होना/आगे पीछे होना -

मुद्रण कार्य में ऐसी भूलें हो जाना अस्वाभाविक नहीं हैं। इनकी पहचान भी सहज हो जाती है। जैसे पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महर्षि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास' में पृ. २६० पं. १८-१६ पर छपा है - 'ग्रन्थ की अंतरंग परीक्षा **होता से ज्ञात है**।' स्पष्टतः यहां '**से ज्ञात होता है**' होना चाहिये। सत्यार्थ प्रकाश सं २ में ऐसी भूलों के कुछ उदाहरण -

(१) सं. २ पृ. १८६ सगुण-निर्गुण प्रार्थना का वाक्य

(२) सं. २ पृ. १३२ पं. ६ विद्या तथा सत्य की व्याख्या - पाठ आपस में मिलजुल गये हैं अर्थात् ऊपर नीचे हो गये हैं।

(३) सं. २ पृ. १७५ - मनु ८/४०६ की व्याख्या पं. १६ से दी है जो अस्थान पर छपी है। यह प्रश्नोत्तर के पश्चात् होनी चाहिये।

(४) सं. २ पृ. १८१ पं. ३० पर '....... सब को सुख और होने दुःख....।' यहां 'सबको सुख होने और दुःख छूटने...।' होना चाहिये।

(५) १२वें समु. में गाथाओं के अर्थ कई जगह मूल के नीचे न छपकर अस्थान पर छपे हैं। पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने इन्हें चिन्हित किया है।

ऐसी अशुद्धियां सक्षम सभाओं के निर्देशन में विद्वानों की एक समिति द्वारा गम्भीर चिन्तन मनन के पश्चात् दूर की जानी चाहिए ताकि एकरुपता रहे।

(च) ऐसे स्थल जहाँ संस्कृत भाग है पर भाषार्थ नहीं। यथा -

सं.२, पृ. १७५, पं. २६ (छटा समु.) मनु ८/४१६ श्लोक उपस्थित है पर भाषार्थ नहीं है। पाण्डुलिपियों में क्या स्थिति है कह नहीं सकते? ३७वें सं. में भाषार्थ है पर इसका स्रोत क्या है? वहां उल्लिखित नहीं है।

(छ) ऐसे स्थल जहाँ मूल मन्त्र/श्लोक नहीं है परन्तु उनके अर्थ दिये गये हैं। यथा -

(१) सं.२, छटा समु., पृ. (१५२-१५६) मनु. ७/१००, ७/१०८ श्लोक नहीं दिए गये पर इनके अर्थ उपस्थित हैं।

(२) सं.२, सप्तम समु. 'अहं दा गृणते ऋ. १०/४६/१' का भाषार्थ है पर मूल मंत्र नहीं। ऐसे में मूल को समाविष्ट करने में कोई परेशानी नहीं क्योंकि मूल मंत्र अथवा श्लोक पाठ विवादित नहीं। परन्तु जहां मूल मंत्र या श्लोक है वहां भाषार्थ यदि पाण्डुलिपियों अथवा महर्षि के ही वांङ्मय से है तो ठीक है अन्यथा विद्वानों को अपनी तरफ से इनका अर्थ मूल ग्रन्थ में नहीं देना चाहिये। ग्रन्थ के परिशिष्ट में स्रोत के नामोल्लेख के साथ यह कार्य किया जा सकता है।

(ज) **अन्य**- (१) सं.२, छटा समु., पृ. १७४, पं. ६ मनु ८/३३७ 'द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च' क्षत्रिय को **बीस गुना** के स्थान पर **बत्तीस गुना** होना चाहिये। पर हमारी राय में यदि पाण्डुलिपियों तथा महर्षि वांङ्मय में उपरोक्त श्लोक का अर्थ (यदि कहीं है) 'बत्तीस गुने' का समर्थन नहीं करता तो टिप्पणी में मुद्रण भूल बताकर सही अर्थ देना उपयुक्त है, न कि मूल ग्रन्थ में।

(२) धातु पाठ का छूट जाना - प्रथम समुल्लास में ईश्वर के 'शेष' नाम व्याख्या में धातु पाठ - 'शिष्लृ विशेषणे इस धातु से शेष शब्द सिद्ध होता है' नहीं है। अन्य सभी नामों के संदर्भ में धातु पाठ दिया है अतः यहां मुद्रण दोष ही प्रतीत होता है।

(३) नवम समु. मुक्ति के साधन वर्णन में विवेक का विशद वर्णन। पुनः दूसरे साधन वैराग्य के पश्चात् 'विवेक यह है....।' पाठ उपलब्ध है। इस कारण भिन्न-भिन्न सम्पादकों ने इस प्रकरण को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया है।

(४) इसी समुल्लास में तीन शरीर कहकर तीन शरीरों के अनन्तर चौथे तुरीय शरीर का वर्णन भी किया है। इस कारण विभिन्न सम्पादकों ने यहां भी स्वतन्त्रता बरती है।

(५) द्वितीय संस्करण, प्रथम समु. में 'सबका पालन करने और परमैश्वर्यवान होने से इन्द्र' पं. भगवद्दत्त जी के अनुसार रफ प्रति में 'सबका पालन करने से **प्रजापति** और परमैश्वर्यवान होने से इन्द्र' ऐसा पाठ है। इसे पाण्डुलिपि के नामोल्लेख पूर्वक शुद्ध करना चाहिये।

(६) तृतीय समु. में शेषवत् अनुमान का उदाहरण अशुद्ध है। इसके लिये हस्तलेख देखना चाहिये।

(७) चतुर्थ समु. में '.... अम्बिका अम्बा में धृतराष्ट्र' - यहां अम्बा मुद्रण भूल है। शुद्धि पत्र में ही शुद्ध करना चाहिये। शुद्धि पत्र तैयार करने वाले विद्वानों के नाम वहां उल्लिखित कर देने चाहिये।

(८) गणितीय अशुद्धि - दशम समु. में जहाँ गौ व गौवंश से लाभान्वित होने वाले मनुष्यों की गणना है वहाँ योग में अशुद्धि है। ३७वें संस्करण में सही योग ३७४८०० है। श्री दैवकरणि जी को बताना चाहिये था कि यह सही योग कौनसी पाण्डुलिपि से लिया है। इसी प्रकार ३६ व ८ का जोड़ बयालीस भी अशुद्ध है।

ऐसी अशुद्धियां सत्यार्थ प्रकाश में ही क्यों अन्य ग्रन्थों में भी हो सकती हैं। उदाहरण के तौर पर ऋग्वेद भाष्य (सार्वदेशिक) में मंत्र संख्या का जो विवरण ऋषि ने दिया है उनका योग १०५८६ लिखा है,. जबकि यह योग १०५२१ ही बैठता है। यह भी इसी प्रकार की भूल है जिसका शुद्धिकरण अनुचित नहीं कहा जा सकता।

अशुद्धियों के ऐसे ही अन्य वर्ग या उदाहरण हो सकते हैं हमें इससे इंकार नहीं, परन्तु **विद्वानों ने इनके निराकरण में जो निरपेक्ष स्वतन्त्रता बरती है उसने सत्यार्थ प्रकाश की एकरूपता को विनष्ट किया है।**

अब तक क्या हुआ है

सत्यार्थ प्रकाश एक ऐसा 'बेचारा' ग्रन्थ बन गया जिस पर विद्वानों की सर्वाधिक कृपादृष्टि रही। इन पूज्य विद्वानों के अभिप्राय पर सन्देह करने का अवकाश नहीं परन्तु यह कार्य कितने मनमाने ढंग से किया जा रहा है यह इस आलेख से पाठकों को ज्ञात हो गया होगा। एक ही सभा के प्रकाशनों में एकरुपता नहीं। अधिकारी बदले, विद्वान् सम्पादक बदले - सत्यार्थ प्रकाश का स्वरुप भी बदल गया। एक ही सम्पादक श्री दैवकरणि जी के दोनों संस्करणों में भी भेद हम दर्शा चुके हैं। इस प्रकार सत्यार्थ प्रकाश की प्रामाणिकता ही नष्ट हो रही है। स्वामी जगदीश्वरानन्द जी के सत्यार्थ प्रकाश के सम्बन्ध में कुछ तथ्यों से आर्यो को परिचित करा दिया है। अब प्रकाशक लोग केवल प्रथम दस समुल्लासों का सत्यार्थ प्रकाश छाप रहे हैं। अंतिम चार समु. इनकी दृष्टि में आर्य समाज के लिये हानिकारक हैं। स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने संक्षिप्त सत्यार्थ प्रकाश निकाला है जिसमें प्रथम दश समुल्लासों का सार है पर अन्तिम चार का जिक्र भी नहीं। डी.ए.वी. वालों ने भी दश समुल्लास वाला सत्यार्थ प्रकाश छापा है। क्या आर्यजन इस प्रवृत्ति के घातक परिणाम से परिचित नहीं हैं? ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका व वेदभाष्य के संबंध को अटूट रखने के लिये अकेले वेदभाष्य (बिना भूमिका के) के विक्रय का निषेध करने वाले **महर्षि जी के सत्यार्थ प्रकाश को उनके ही शिष्य खंडित कर रहे हैं।** यह सब इस कारण संभव हो पा रहा है क्योंकि आर्यजनों का तेजस्वी रुप विलीन हो चुका है। **हम हाथ जोड़कर, हृदय में वेदना लिये, अश्रुपूरित नेत्रों से समस्त आर्य विद्वानों, नेताओं तथा आर्यजनों से अनुरोध करते हैं कि यह कदापि आवश्यक नहीं कि वे हमारी बात पूर्णतः मान लें पर उस पर उसके महत्व पर विचार अवश्य करें क्योंकि सम्भवतः अभी अत्यधिक देर नहीं हुई है।** सत्यार्थ प्रकाश की रक्षा

से आवश्यक और पवित्र दायित्व कोई भी नहीं है। हमें सार्वदेशिक सभा तथा परोपकारिणी सभा के मान्य अधिकारीगणों को 'एकरुप सर्वांग शुद्ध ऋषि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश के प्रकाशन हेतु निवेदन करना होगा। फिर भी अगर सभाधिकारियों की निद्रा नहीं टूटती तो वैकल्पिक उपाय सोचने होंगे। जागो, उठो, कहीं देर न हो जाय। जो विद्वान् मौन हैं उनके चरणों में सक्रियता हेतु निवेदन है।

आज सत्यार्थ प्रकाश के प्रमुख प्रकाशक श्रीमती परोपकारिणी सभा, सार्वदेशिक सभा, रामलाल कपूर ट्रस्ट, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, भगवती लेजर प्रिंटर्स आदि हैं। प्रमुख सम्पादकों में स्व. पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक, स्वामी वेदानन्द जी, पं. भगवद्दत्त जी, पं. विरजानन्द जी दैवकरणि, स्वामी जगदीश्वरानन्द जी हैं। आप इन सभी प्रकाशकों तथा सम्पादकों के सत्यार्थ प्रकाश उठाकर देखें, मिलान करें। एक भी संस्करण दूसरे से पूर्णतः मेल नहीं खाता। एक ही लेखक की रचना के साथ यह स्थिति विद्वानों के ही हस्तक्षेप कारण हुई है। हम इन मान्य विद्वानों की नीयत पर सन्देह नहीं कर रहे, परन्तु परिणाम में सत्यार्थ प्रकाश की अमरता विनष्ट हुई है, यह सत्य है।

परोपकारिणी सभा ने इस शुद्धिकरण की दिशा में १६६१ से पूर्व भी प्रयास किये। २७ अक्टूबर १६१६ को स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी तथा पं. भगवद्दत्त जी की उपसमिति गठित की। ११ नवम्बर १६२० को सभा के वार्षिक अधिवेशन में शोधित प्रति प्रस्तुत की गयी (सत्यार्थ विमर्श - डॉ. रामप्रकाश पृ. ६१-६२)। ३४वां सं. पं ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, श्री धर्मसिंह जी कोठारी एवं पं. भगवद्दत्त जी की समिति द्वारा छापा गया। परन्तु अन्तिम रुप से कोई एक संस्करण न किसी अधिकारिक सभा ने न आर्य विद्वानों ने स्वीकृत किया। आज एक ओर स्वामी जगदीश्वरानन्द जी दावा कर रहे हैं कि उनका संस्करण शुद्धतम है एक ओर विरजानन्द जी यह कह रहे हैं कि उन्होंने सबसे शुद्ध संस्करण प्रकाशित किया है।

अब क्या करना चाहिये

अब बताएँ सत्यार्थ प्रकाश प्रेमी क्या करें? क्या सत्यार्थ प्रकाश की प्रामाणिकता को विनष्ट होते देखते रहें? फिर प्रश्न यह भी है कि एक रुप सत्यार्थ प्रकाश ही सर्वत्र उपलब्ध हो इसके लिये प्रक्रिया क्या हो? इसी प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने हेतु सत्यार्थ प्रकाश प्रेमियों की सेवा में यह निवेदन हम कर रहे हैं। हमें यह सुझाव मान्य विद्वानों ने दिया कि 'आप न्यास द्वारा सत्यार्थ प्रकाश का प्रकाशन करें।' हमने प्रत्युत्तर में यही निवेदन किया कि इससे समस्या तो नहीं सुलझने वाली। जहाँ इतने प्रकार के सत्यार्थ प्रकाश हैं उनकी संख्या में एक की अभिवृद्धि और हो जायेगी। अतएव आप सुधीजनों से निवेदन है इस हेतु अपने सुझाव तो हमें दें ही साथ ही सकारात्मक प्रयत्न करें।

हमारी स्वयं की तुच्छ सम्मति इस प्रकार है। आवश्यक नहीं यह मान्य हो। हमें उत्कृष्ट सुझाव की प्रतीक्षा रहेगी।

(क) सर्वप्रथम प्रत्येक पक्ष द्वारा पूर्वाग्रह का त्याग। इसमें अमुक सम्पादक मित्र अथवा निकट है, ऐसी भावना का पूर्ण त्याग।

(ख) हमने सार्वदेशिक सभा की धर्मार्य सभा को इस विषय को हल करने के लिये लिखा है। प्रसन्नता है कि श्रद्धेय कै. दैवरत्न जी ने इस विषय को परम आवश्यक मानकर धर्मार्य सभा के प्रधान, आर्य जगत् के शीर्षस्थ विद्वानों की पंक्ति में सुशोभित, वेदार्थ कल्पद्रुम जैसे ग्रन्थ रत्न के प्रणेता आचार्य विशुद्धानन्द जी मिश्र को सौंप दिया है। परन्तु 'सोने पे सुहागा' तब हो जब मान्य परोपकारिणी सभा की एक समिति के साथ संयुक्त तत्त्वावधान में यह कार्य हो। हमारा निवेदन है कि आचार्य विशुद्धानन्द जी व डॉ. धर्मवीर जी (मंत्री परोपकारिणी सभा) एवं दयानन्द वाङ्मय निष्णात डॉ. भवानी लाल जी भारतीय की एक समिति बने। यह समिति १४-१५ विद्वानों की एक सभा का गठन करे। यह कार्य व्यय साध्य व श्रम साध्य अवश्य है परन्तु परम आवश्यक जानने पर कोई कठिनाई नहीं है। **दानवीर आर्य श्रेष्ठि इस हेतु उदारता दिखावें।** प्रश्न हो सकता है कि इतने विद्वानों की समिति का क्या औचित्य है? उत्तर है इसके पीछे वही तर्क है कि जैसे एकल पीठ के निर्णय का पुनरीक्षण खण्डपीठ द्वारा व खण्डपीठ का पूर्णपीठ द्वारा किया जाता है।

इस समिति में सत्यार्थ प्रकाश के अब तक के सभी सम्पादक जो प्रभुकृपा से हमारे मध्य हैं यथा - पू. स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, आ. पं. विरजानन्द जी, आ. धर्मसिंह जी कोठारी, पं. राजवीर जी शास्त्री, डॉ. भारतीय व अन्य कोई हों उन्हें अवश्य लिया जाना चाहिये। प्रो. राजेन्द्र जी जिज्ञासु जैसे विद्वान् इसमें हों तो अच्छा रहे।

(ग) **द्वितीय संस्करण को ही प्रमाण मानकर आधार माना जावे।** क्यों? इसकी विस्तृत विवेचना इस आलेख में कर चुके हैं। दूसरे, आर्य विद्वानों की १२५ वर्ष की सुदीर्घ परम्परा में अपवाद को छोड़कर यही सर्वमान्य रहा है।

(घ) द्वितीय संस्करण में रह गयी अशुद्धियों (जिनका संकेत व वर्गीकरण इस आलेख में है तथा अन्य भी) के बारे में विद्वद्जन इस समिति को बतावें।

(ङ) उपरोक्त समिति के चौदह विद्वानों को एक-एक समुल्लास उनके अध्ययन व कार्यक्षेत्र के अनुसार कार्य हेतु दे दिया जावे। प्राप्त आपत्तियां भी उनको जना दी जावें।

(च) **इन विद्वानों को सं.२ के यथाशक्य समीप रहने की शपथपूर्वक, भाषा-वाक्य विन्यास-स्पष्टता- व्याख्या में अभिवृद्धि करने के लोभ से दूर रह, केवल अत्यन्त आवश्यक शुद्धिकरण तक अपने को सीमित रखना चाहिये।**

(छ) इन विद्वानों के कार्य का समेकित रुप से अवलोकन-चिन्तन करने के पश्चात् समिति आवश्यक निर्णय लेवे।

(ज) **मूल ग्रन्थ में कोई परिवर्तन न किया जावे।** शुद्धि पत्र जिस पर विद्वानों के नाम उल्लिखित हों ग्रन्थ के पीछे लगाया जावे। ताकि महर्षि के लेख तथा विद्वानों के कार्य में विभेद किया जा सके। इस उद्देश्य को ध्यान में रख विद्वद्जन् और कोई पद्धति/प्रक्रिया निर्धारित कर सकते हैं।

(झ) सम्पूर्ण ग्रन्थ का पाठ निश्चित होने के पश्चात् एक ही संस्था सत्यार्थ प्रकाश का प्रकाशन करे यह निश्चित किया जावे। परोपकारिणी सभा सबसे उपयुक्त नाम है। परन्तु व्यवसाय दृष्टि से विभिन्न प्रकाशन इसे स्वीकार न करें, तब प्रूफ रीडिंग आदि के पश्चात् ग्रन्थ को सी.डी. में ले लिया जावे। जो प्रकाशक भी छापे, सी.डी. के अनुरुप ही छापे।

(ञ) ग्रन्थ के प्रारम्भ में भी समिति के सभी विद्वानों के हस्ताक्षर हों। धर्मार्य सभा का और यदि परोपकारिणी सभा रूचि ले (जिसकी हमें पूर्ण आशा है) तो उसका भी प्रमाण पत्र हो।

उपरोक्त सुझाव, मेरे स्वयं के हैं, जैसा मैं सोचता हूँ। आवश्यक नहीं अधिकारीगण इसे मानें। तब निवेदन है कि वे स्वयं इस दिशा में कार्यनीति बनावें, कार्य करें। **एकरुप सत्यार्थ प्रकाश आज की सर्वोपरि आवश्यकता है।** अगर अधिकारी सभाएं अब भी शिथिल रहती हैं तो आर्यजनों से निवेदन है कि वे निवेदन कर-करके उनकी सुस्ती को दूर कर उन्हें कर्तव्य का स्मरण करावें। **आर्यजन चाहेंगे तो न्यास को केन्द्र बना, इस कार्य को किया जा सकता है।**

नोट- वैसे सार्वदेशिक धर्मार्य सभा के प्रधान पू. आचार्य विशुद्धानन्द जी इस समस्या को सुलझाने हेतु कटिबद्ध हैं। आर्य जनों को चाहिये, उन्हें प्रत्येक प्रकार का सहयोग प्रदान करें।

अगर सभाओं द्वारा उनके इस परम पावन कर्तव्य का निर्वहन नहीं किया जाता तो विद्वद्जन वैकल्पिक उपाय सुझावें। यद्यपि अपने चिन्तन-मनन के आधार पर मुझे निश्चय है कि सभा का ३७वां व ३८वां संस्करण एवं स्वामी जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती का अभिनव संस्करण सत्यार्थ प्रकाश की प्रामाणिकता को नष्ट करने में सर्वोच्च कारक बने हैं, परन्तु उपरोक्त विद्वत् समिति का निर्णय अगर इनके पक्ष में होता है तो सिरमाथे। **परन्तु ऐसा अवश्य हो कि सत्यार्थ प्रकाश विश्व में कहीं से भी क्रय किया जावे, उसका एक-एक शब्द दूसरे से मिलता हो।** अपने निष्कर्ष थोपना हमारा उद्देश्य नहीं। जब हम सभी 'सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने' के सूत्र से अपने को आबद्ध पाते हैं तो सत्य प्राप्ति में कोई कठिनाई है ही नहीं। और अब अन्त में कुछ-

निवेदन-

(अ) इस आलेख में तथ्य, भाषा आदि से सम्बन्धित कोई अशुद्धि हो, पुनरुक्ति जैसे दोष हों तो क्षमा-प्रार्थी हूँ। जनाने पर आवश्यक संशोधन कर दिये जावेंगे।

(ब) किसी भी विद्वान् की अवमानना का भाव हृदय में तनिक भी नहीं है फिर भी जाने-अनजाने किन्हीं भी महानुभाव को किंचित् मात्र भी ठेस पहुंचे तो क्षमा-प्रार्थी हूँ।

(स) **सम्पूर्ण आलेख को दिमाग से परन्तु निम्नलिखित (द) को हृदय से पढ़ने का निवेदन है।**

(द) सभी सुधी आर्यजनों, सत्यार्थ प्रकाश प्रेमियों से निवेदन है कि इस आलेख का गम्भीर अध्ययन कर अपने सुझावों, निष्कर्षों से अवश्यमेव परिचित करावें और सत्यार्थ प्रकाश की पाठ एकरुपता को परमावश्यक जान इसकी रक्षा के लिये कृत संकल्प होने तथा हर प्रकार का उद्योग करने हेतु तैयार रहें।

इस विषय में विगत् एक वर्ष के प्रयास के उपरान्त भी इस दिशा में उल्लेखनीय प्रगति न होने के कारण न्यास के यशस्वी अध्यक्ष (स्मृति शेष) पूज्य स्वामी तत्त्वबोध जी ने इस परम पुनीत परमावश्यक कार्य को न्यास के माध्यम से करने का संकल्प कर लिया था। वस्तुतः उनके इस संकल्प के पीछे अनेक सत्यार्थ प्रकाश प्रेमियों का आग्रह था कि **विद्वेषियों द्वारा की गई मिलावट के पश्चात् महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण का परिशोधन इसी नवलखा महल में विराज कर किया था, अतः क्या ही अच्छा हो? कि अपने घर के विद्वानों द्वारा सत्यार्थ प्रकाश में जो अवांछनीय मिलावट की गई है, उसका भी निराकरण उसी नवलखा महल से हो।** वर्तमान न्यास अध्यक्ष माननीय के. देवरत्न आर्य भी इस पुनीत कार्य को न्यास के माध्यम से करने हेतु समुत्सुक हैं। इस **'सत्यार्थ प्रकाश अस्मिता रक्षण यज्ञ'** में पर्याप्त वित्तीय संसाधनों की भी आवश्यकता है, क्योंकि अनेक विद्वानों की बैठकें, प्रिंटिग-स्टेशनरी, डाक-व्यय, सत्यार्थ प्रकाश मुद्रण व्यय आदि 'अर्थ' की अपेक्षा रखते हैं। पूज्य स्वामी जी ने हमें इस पक्ष से निश्चिंत कर दिया था। पर दैव दुर्योग से वह महान् भामाशाह हमारे मध्य नहीं हैं। अतएव यह आर्थिक पक्ष भी चिन्ता का विषय हो गया है। परन्तु हमें विश्वास है कि 'आर्य श्रेष्ठिगण' जो इस प्रकरण की गम्भीरता को समझेंगे व 'ऋषि दयानन्द सरस्वती की कालजयी कृति के मूल स्वरूप को अक्षुण्ण रखना चाहेंगे' वे अपना उदार वरद् हस्त हमें प्रदान करेंगे। सामान्य आर्थिक स्थिति वाले भी इतना सहयोग तो कर ही सकते हैं कि इस आलेख के मुद्रण व प्रेषण व्यय की प्रतिपूर्ति हो आगे उतने ही आर्यजनों तक इसका प्रसारण हो सके। इस महान् यज्ञ में आप की यत्किञ्च आहुति भी परिणाम में चमत्कारी होगी।

सर्वात्मना सहयोग की आशा और विश्वास के साथ

भवदीय

अशोक आर्य
कार्यकारी अध्यक्ष,
श्रीमद् दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश
न्यास, उदयपुर

परिशिष्ट

(क)

''सत्यार्थ प्रकाश - पाठ भेद - विषय पर विद्वानों के प्राप्त पत्रों का सारांश

१. **पू० महात्मा गोपाल स्वामी सरस्वती-** ''मैं पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक के सम्पादित सत्यार्थ प्रकाश को प्रमाण मानता हूँ।''

२. **आ० डा० कुशलदेव जी, नांदेड़-** ''जहाँ तक सत्यार्थ प्रकाश की बात है मैं महामहोपाध्याय युधिष्ठिर जी मीमांसक के पथ का अनुसरण करता हूँ।''

३. **पं० राजवीर जी शास्त्री-** ''ऐसे सत्य निर्भ्रांत व सप्रमाण ग्रन्थ (सत्यार्थ प्रकाश) की आर्यों को प्राणप्रण से सुरक्षा करनी चाहिये। ऐसी भयावह शोचनीय दशा में इस ग्रन्थ की सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक है अन्यथा इसके परिणाम अत्यन्त भयंकर होंगे। जो पाठ भेद किये गये हैं, वह बहुत ही निन्दनीय कार्य किया गया है। **(संशोधित सत्यार्थ प्रकाश) भ्रष्ट व जलाने योग्य बताया गया है, यह सत्य है। मेरी भी यही सम्मति है।**''

४. **डॉ० भवानीलाल भारतीय-**''यह दुःखद है कि आर्य समाजियों के कालजयी ग्रन्थ के बारे में हम और हमारी संस्थाऐं इतनी असावधानी तथा गैर जिम्मेदारी का रवैया लिये हैं। **इसमें सार्वदेशिक सभा तथा परोपकारिणी सभा का भी अपराध है।**''

५. **आचार्य सत्यानंद जी वेदवागीश-** ''**द्वितीय संस्करण प्रमाणभूत है। अन्य किसी प्रकार का परिवर्तन/परिवर्धन/संशोधन करना अनुचित है।**'' उपर्युक्त प्रसंग में भगवती लेजर प्रिंट वालों का इतना दोष नहीं है, दोष परोपकारिणी सभा का है।

६. **श्री सुदर्शनदेव आचार्य-** ''श्री दैवकरणि जी ने परोपकारिणी में उपलब्ध प्रथम प्रति और द्वितीय प्रति दोनों को मिलाकर तृतीय प्रति तैयार की और उसी से ३७वाँ संस्करण छपा जो कि आर्य जगत् में विवाद का विषय बना हुआ है। ऐसा करना परोपकारिणी सभा को उचित नहीं था। **महर्षि के ग्रन्थों में कोई परिवर्तन/संशोधन स्वीकार्य नहीं है।** टिप्पणियां देना भी उचित नहीं है। जो महर्षि ने लिखा है, वही छापना चाहिये।''

७. **डॉ० रामकृष्ण आर्य कोटा-** ''यह केवल पाठ परिवर्तन ही नहीं है अपितु एक प्रकार से सत्यार्थ प्रकाश के विषय में पाठकों को संदेहशील बनाने वाली एक धांधली है, जिसका पुरजोर आन्दोलनात्मक विरोध होना चाहिये।''

८. **श्री धर्मसिंह जी कोठारी-** ''आपका यह उद्‌बोधन नितान्त समीचीन है कि 'मेरे हिसाब से आर्य जगत् के सम्मुख यह सबसे बड़ी चुनौती है कि उनके सबसे ज्यादा सम्मानित ग्रन्थ में ऐसा कार्य किया गया है।' सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। आशा है जिन्होंने उक्त कार्य किया और जिन्होंने कराया वे भी जनता के हितैषी हैं अतः उन्हें आर्यों की सम्मति लेकर सत्यार्थ प्रकाश को १०० वर्ष से चला आ रहा सर्वांग सुन्दर स्वरुप पुनः प्रदान करना चाहिये।''

९. **पूज्यपाद आचार्य विशुद्धानन्द जी**- नोट--- काफी लम्बे पत्र में पू० आचार्य जी ने संशोधनकर्त्ताओं की भर्त्सना की है। "श्री स्वामी जगदीश्वरानन्द जी तथा परोपकारिणी के सदस्य इस प्रच्छन्न बलवती धारणा में थे कि हम नए सत्यार्थ प्रकाश छपवाकर चिर और अमर यशस्वी हो जायेंगे। मेरी दृष्टि में इन दोनों का ये आत्म हनन ही था। इसका उपाय (आचार्य विशुद्धानन्द जी द्वारा) "अब तो एक मात्र भविष्य के लिये यही उपाय है कि सार्वदेशिक सभा के अंगभूत धर्मार्य सभा अपने निर्णय व प्रस्ताव अनावश्यक रुप से संशोधन न करने के लिये परोपकारिणी व सार्वदेशिक सभा को भेजे और ये सभाऐं इस परिवर्तन और संशोधन के कार्य को बन्द करा दें।"

१०. **आचार्य यशपाल जी (देहरादून)**- हमारा निश्चित मत है कि महर्षि के प्रत्येक छपे लेख को ज्यों का त्यों प्रकाशन करना चाहिये। वही प्रामाणिक है।... सत्यार्थ प्रकाश अथवा दयानन्द के किसी लेख में परिवर्तन करना **दयानन्द की हत्या** के समान जघन्य अपराध है।

इसके अतिरिक्त आर्य जनों, आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पत्र भी संशोधन के विरोध में आ रहे हैं।

परिशिष्ट
(ख)
सत्यार्थ प्रकाश पर आर्य समाज के पण्डितमन्यों का आक्रमण
पं. विशुद्धानन्द मिश्र शास्त्री (वेदार्थ कल्पद्रुम प्रणेता)

यह विश्वविदित तथ्य है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती महाराज का अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' उनकी तपस्या, साधना, पाखण्ड-खण्डन भावना एवं सारे ज्ञानमय जीवन का निचोड़ है। यद्यपि सत्यार्थ प्रकाश को वेद के समान नियतानुपूर्वीक कहना तो मेरे द्वारा अतिश्योक्ति हो जायेगी, तथापि इतना कथन करना तो पूर्णतया सत्य होगा कि आर्यभाषा के जन्म काल में वाक्य रचना और उसके भाषा विन्यास में पौर्वापर्य जैसा अपेक्षित था, भाषा सुधार की दृष्टि से समुचित था वैसा ऋषिवर द्वारा किया गया। हाँ, यत्र कुत्रापि भाषा बोल कर लिखाने में कतिपय विशेषण या शब्दों में दूरान्वय हो गया है, वह बोलने की प्रभावापेक्षा दृष्टि से तो ऋषि द्वारा वैसा ही प्रयोग किया गया। यद्यपि श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक आदि ने इस खटकने वाले दूरान्वय का निराकरण टिप्पणी में कई स्थानों पर शब्द को पास लाकर कर दिया, परन्तु अब तो स्वामी जगदीश्वरानन्द जी जैसे ऋषिभक्त कहलाने का दम्भ रखने वालों ने ऋषि की भाषा में सुधार के नाम पर एक अवांछनीय क्रांति वा उथल पुथल न केवल ऋषिवर के सत्यार्थ प्रकाश में की है, प्रत्युत ऋषि के सच्चे भक्तों के हृदय में भी कर दी है, जिसका निराकरण होना आवश्यक है।

सबसे अधिक दुःखद स्थिति तो यह है कि उसी मत या सिद्धान्त का अनुयायी उस मत में रहते हुए उसी मत या उस मत के प्रकाशक धर्म पुस्तक में से सत्यार्थ प्रकाश का खण्डन या परिवर्तन निर्भीकता से करता है और ऋषि के अनुयायी कायर, किंकर्त्तव्यविमूढ़ या कान्दिशीक होकर निष्क्रिय ने रहें, यह तो सही नहीं है, परन्तु आर्य समाज में "वादे वादे जायते तत्त्वबोधः" अथवा "सत्य के ग्रहण करने तथा असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये" वाक्यों की छल पूर्ण आड लेकर अपने असत्य कथन को सत्य सिद्ध करने पर जुटे हैं।

इस कथन से तो यही सिद्ध होगा कि ऋषि ने कुछ असत्य भी लिखा है और तत्त्वबोध खोज पाने में भी त्रुटि की है, इसलिये अब नये सिरे से तत्त्वबोध वा सत्यखोज कर इन नये स्कालरों के द्वारा प्रकाश में लाया जा रहा है।

भाषा सुधारक, दम्भ-विजम्भित लोगो से मैं निम्न प्रश्न करना चाहता हूँ :

(क) कि आर्य भाषा के जन्म काल से जो लेखक भाषा को शब्द या वाक्य रचना का परिधान पहना रहे थे जिनमें महर्षि दयानन्द सरस्वती का प्रमुख स्थान था उनकी भाषा 'आधुनिक रुपान्तर' का परिधान पहनाकर बदली जा रही है, तो भाषा के प्रथम प्रारुप या स्वरुप खोजियों को भाषा का वह आदिम रुप तो सर्वथा अलभ्य हो जायेगा तथा भाषा के इतिहास में भी उदाहरणीय नहीं रहेगा, तब उसे मिटाने की शपथ इन्होंने क्यों खाई है?

(ख) क्या अन्य कोई भाषाविद् व्यक्ति जैसे इंगलिश भाषी लेखक भी प्राचीन लैटिन आदि भाषाओं में रचित ग्रन्थों का आधुनिक रुपान्तर करके (बीच-बीच में अर्ध या खण्डित वाक्यों की मिलावट करके) उस ग्रन्थ के स्वरुप को बिगाड़ कर छपवाने की दुष्चेटा कर रहा है या उसने ऐसी कुचेष्टा कभी की है ? जैसे शेफर्ड्स-कलेण्डर आदि की भाषा में परिवर्तन करना। फिर आर्य समाज ने छूट क्यों दी ?

(ग) जब इंशा अल्ला खाँ, लल्लू लाल, सदल मिश्र और मुंशी सदासुख राय स्वामी जी के पूर्व हिन्दी लेखक थे तथा स्वामी जी के सम सामयिक लेखक भाषा लिखकर अपने विचार प्रकट कर रहे थे तो क्या आज तक किसी ने "रानी केतकी की कहानी" आदि पुस्तकों की तथा अन्यों की भाषा का "आधुनिक रुपान्तर" करने का दुःसाहस कर उस समय भाषा की परिपाटी को ध्वस्त करने का कुप्रयास किया है ?और यदि कोई करता तो क्या हिन्दी के समालोचक उस व्यक्ति की धज्जियाँ नही उड़ा देते ? स्मरण रखना चाहिये कि महर्षि अपने समय में भाषा के स्वरुप निर्धारण में तथा धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद प्रस्तुत करके भाषा को सक्षम बनाने में जुटे हुए थे और रेंगने में भी असमर्थ आर्य भाषा को अपनी लेखनी की अंगुली पकड़ाकर ऋषिवर ने घुटनों चलना और खड़े होना सिखाया था। उस समय के रेंगने वा घुटनों चलने की भाषा की ठुमकन का अनुवाद, रुपान्तरित आधुनिक भाषा द्वारा कैसे प्रत्यक्ष किया जा सकेगा ?

(घ) गोस्वामी तुलसीदास की रामायण "रामचरित मानस" में उस समय की जिस अवधी भाषा का प्रयोग किया गया है क्या कोई भी आधुनिक अवधी में रामायण का रुपान्तर करने का कुप्रयास करेगा ? और क्या उसे रामायण भक्त सह लेंगे ?

(ङ.) २७, २८ फरवरी को उदयपुर में समायोजित 'सत्यार्थ प्रकाश सम्मेलन' में मैं तो अस्वस्थता वश न जा सका, यद्यपि आर्ष प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली के सचिव श्री धर्मपाल जी आर्य ने मुझको अपने साथ ले चलने का प्रस्ताव किया था।

अब मैं इन्हीं क्षणों में सोचने लगा कि उदयपुर में किस 'सत्यार्थ प्रकाश' का सम्मेलन होगा ? वस्तुतस्थु वहाँ श्री विरजानन्द जी द्वारा सम्पादित तथा परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित और श्री जगदीश्वरानन्द जी महाराज द्वारा विकारित एवं श्रद्धेय महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित वा प्रसारित इन तीनों का सम्यक् मिलन तो कदापि संभव ही नहीं हैं। फिर पता नहीं कि वहाँ पर यह विचार करके सुदृढ़ निश्चय लिया गया या नहीं कि केवल महर्षि के ही अब तक प्रसारित संस्करण का ही प्रसारण वैध है। सत्यार्थ प्रकाश को विकृत करने वाले लेखन पर प्रतिबन्ध लगाया गया या नहीं ? क्या प्रतिबन्ध को नहीं मानने पर उन लेखकों की कुचेष्टा का बहिष्कार का निश्चय लिया गया या नहीं ? यदि कदाचित नहीं, तो इन सम्मेलनों का कोई लाभ नहीं हो सकेगा और ये आधुनिक हिन्दी के नाम पर प्रेत बनकर भाषा का भूत सदा खड़ा करते रहेंगे।

(च) मेरी दृष्टि में सबसे बड़ी बात यह है कि महर्षिकृत 'सत्यार्थ प्रकाश' का 'आधुनिक हिन्दी रुपान्तर' यह नाम देना ही मूलतः अशुद्ध है,भाषाविद् पण्डित जानते हैं कि ऋषि की भाषा हिन्दी (आर्यभाषा) तो निसंदेह है, तो उस हिन्दी का हिन्दी में रुपान्तर संभव ही नहीं है। क्योंकि रुपान्तर का अर्थ होता है "रुपं अन्तरयति दूरी करोति इति रुपान्तरम्" अर्थात् रुप का अन्त करने वाला रुपान्तर कहा जा सकता है। जो कि संस्कृतादि से हिन्दी आदि अन्य भाषान्तर करना है। प्राचीन हिन्दी के ऐतिहासिक स्वरुप को आधुनिक हिन्दी में बदलने का अर्थ रुपान्तर कदापि नहीं है फिर क्या ऋषिवर की भाषा आधुनिक हिन्दी नहीं है ? हाँ, जब भाषा में अनुवाद किया जाय तो संस्कृत का सोम होम, संस्कृत का सेना शब्द जन्द में हेना बन जाता है। अर्थात् वहाँ 'स' का 'ह' हो जाता है। ऐसी स्थिति में सत्यार्थ प्रकाश तो बनकर रुपान्तर कहला सकता है अथवा यहाँ संस्कृति के व्युत्पत्तिलब्धार्थ के ले लिया जाय, जैसा कि इस रुपान्तरकार को अभीष्ट भी है तो सत्यार्थ प्रकाश के रुप का अन्त करने वाला या उसको तिरोहित करने वाला रुपान्तर कहलाएगा। दूसरे शब्दों में इस रुपान्तर को सत्यार्थ प्रकाश की अन्त्येष्टि कहना अधिक समुपयुक्त होगा।

आर्यो जागो! क्योंकि अब दयानन्द तुम्हें जगाने फिर नहीं आयेगा। महर्षि की देदीप्यमान कीर्ति को धूमिल करने से बचाओ। महर्षि की भाषा पर कुठाराघात हमारी श्रद्धा को समूल उच्छिन्न करने का प्रयास है। महर्षि के आदेशानुसार सन् १८७५ से अर्थात् आर्यसमाज की स्थापना तिथि से ही आर्यसमाज, आर्य विद्यालय, आर्य समाजी समाचार पत्र सभी की भाषा आर्यभाषा हिन्दी ही सम्मानित वा प्रतिष्ठापित की गई। जब महर्षि के समक्ष उनके ग्रन्थों को अन्य भाषा में रुपान्तरित करने का प्रस्ताव रखा गया, तब महर्षि के उल्लासपूर्ण व्यक्त उद्गार मननीय और हृदयस्थ करने योग्य हैं कि "मैंने आर्यावर्त्त भर में भाषा की एकता सम्पादन करने के लिये अपने सारे ग्रन्थ आर्य भाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं।"

महोदय! आर्य भाषा तो वही रहेगी जो ऋषि की प्रेरणा से हिन्दी थियासोफिकल सोसायटी और सनातन धर्म के नेताओं ने अपनायी थी तथा सारे राजस्थानी राजाओं ने समस्त कार्य हिन्दी में ही प्रारम्भ किया।

उच्चारण सौकर्य के लिए ऋषिवर शब्दों का संस्कृतिकरण अवश्य अभिनंदित करते थे यथा मैक्डानल, को मुग्धानल, मैक्समूलर को मोक्षमूलर लिखना ऋषिवर को अभीष्ट था। हिन्दी में आलोचना क्षेत्र के महर्षि जन्मदाता थे। ऋषि से पूर्व कभी किसी धार्मिक ग्रन्थ का अनुवाद हिन्दी में किया हुआ मेरे दृग्गत् न हो सका। ऋषि ने भाषा को चुटीली व्यंगशैली, दृष्टान्त, पत्रकारिता और शास्त्रार्थ करने की अनूठी तर्क पूर्ण नवीन शैली प्रदान की।

अपशोच है कि उन्हीं ऋषिवर की अनुपम हिन्दी परिपाटी वाटिका पर प्रबल पशु प्रहार किया जा रहा है। अब भी समय है कि आर्य समाज चेतना में आये ऋषि भाषा को विकृत करने वाले को जैसे भी हो सन्मार्ग सुझाए।

हाँ! जिस आर्य समाज के सामने शास्त्रार्थ समर में आने से बड़े बड़े विद्वान् मल्लयोद्धा भयभीत होते थे वहीं आज प्रश्न उठ रहा है कि ऋषि को प्रभावी भाषा नहीं आती थी। उनकी भाषा और वाक्य रचना में सहस्त्रों ही नहीं, प्रत्युत अगणित त्रुटियाँ हैं। उन्हीं के सुधारने की दिशा में यह ''आधुनिक हिन्दी रुपान्तर'' भोली भावुक आर्य जनता के समक्ष प्रस्तुत किया गया है।

आर्य समाज का वह शास्त्रज्ञता का वैभव, प्रतिपक्षी को घर्षित करने वाली शास्त्रार्थ की हुंकार आज कहां सो गई ? क्या अब ऐसे दिन उलट गए जो :-

चूमत चरण श्रृगाल के राजमद मर्दन शेर।

झटपट बाजन पै लबा हाय दिनन के फेर।।

आर्य समाज ने अब तक बाहर से होने वाले आक्रमण झेले अथवा उनका मुंह तोड़ उत्तर दिया। अन्तिममहाप्रयाण आर्यसमाज पर तेरह पण्डितों का नेतृत्व करने वाले श्री करपात्री जी रचित महापोथा 'वेदार्थ पारिजात' जटिल संस्कृत में लिख कर किया उसका मुंहतोड़ उत्तर 'वेदार्थ कल्पद्रुम' नामक तीन खण्डों में प्रकाशित ग्रन्थ से दिया गया। आज तक किसी पौराणिक विद्वान् ने इसके प्रतिवाद में एक पंक्ति भी नहीं लिखी। **उस समाज की ओजस्विता घर के ही आस्तीन के सांपों के दर्शन से समाप्त हो रही है। क्योंकि यह प्रहार बाहर से नहीं, बल्कि इसके ही हृदय का कैन्सर है।**

वह योग्यता या प्रतिभा तो इन दंशकों में है नहीं जो किसी बाहर वालों से शास्त्रार्थ करें। तो अब जुट गये घर की ही दिवार गिराने पर। **ऐसों के द्वारा प्रलयकाल तक सत्यार्थ प्रकाश का कितनी बार काया कल्प तक किया जाएगा पता नहीं।**

रुपान्तरकर्त्ता प्रेतो! संशोधन करना हो तो कबीर, नानक, सूर, तुलसी, जायसी आदि की कविताओं का रुपान्तर करके देखो, तुम्हारी कुशल नहीं

इसलिये-

वेदकल्पतरो : सदूयो भाषा सिद्धान्त निर्मलम्।
सत्यार्थस्य प्रकाशं च दयानन्दाश्रये भज।।१।।
सत्यार्थस्य प्रकाशस्य रुपान्तर विधायकोते।
असत्यार्थान्धिकारेत्वं कथं भ्रामयसि कोविद।।२।।
ऋषिभाषा विरुपते सन्तोष भेजसे कथम्।
जगताभीश्वरानन्द एवं नाधि गमिष्यसि।।३।।
दयानन्दर्षि भक्तोहम् सज्जितोमदमर्दने।
विशुद्धानन्दनामायं प्रायश्चितं न चेत् कुरु।।४।।

अर्थात् वेदकल्पद्रुम (वृक्ष) के भाषा और सिद्धान्तों से निर्मल सत्यार्थ का प्रकाश महर्षि दयानन्द के आश्रय से ही मिल सकता है। ।।१।। हे सत्य अर्थ के प्रकाश को रुपान्तरण करने वाले, पण्डित हो कर भी अन्धकार में ही क्यों भटक रहे हो? ।।२।।

तुम्हें ऋषि भाषा को विकृत करने में क्यों संतोष मिल रहा है ? जगत् के ईश्वरानन्द को तुम इस प्रकार प्राप्त न कर सकोगे ।।३।।

महर्षि दयानन्द का भक्त मैं ऋषि विरोधी का मदमर्दन करने में सदा सज्जित हूँ, यदि तुम इसका प्रायश्चित न करोगे तो ।।४।।

नोट- पू. आचार्य जी का यह लेख वैदिक रवि के मई-जुलाई १९९६ के अंक में छपा था। अस्पष्ट मुद्रण के कारण कुछ अशुद्धियां संभव हैं।

परिशिष्ट
(ग)

पूज्य स्वामी जगदीश्वरानन्द जी को २५.०३.०४ को लिखा पत्र

पूज्यपाद् स्वामी जी,

सादर नमस्ते।

आशा है प्रभुकृपा से आप स्वस्थ व सानन्द होंगे। आपका कृपा पत्र यथासमय प्राप्त हुआ था पर पारिवारिक कार्य से मथुरा जाने, पश्चात् सत्यार्थ प्रकाश महोत्सव २००४ में व्यस्त होने के कारण शीघ्र पत्रोत्तर न दे सका, अतएव क्षमाप्रार्थी हूं। मेरा निवेदन निम्न प्रकार है:-

(१) आपकी विद्वता, आपके अध्ययन की व्यापकता तथा आपकी ऋषि भक्ति के प्रति सदैव नतमस्तक हूँ।

(२) मेरा पाणिग्रहण संस्कार आपके पुनीत सानिध्य में आचार्य श्री कृष्ण शास्त्री द्वारा सम्पन्न कराया गया। (भरतपुर में)। शायद आपको स्मरण न हो, पर इस कारण मेरे लिये आप अत्यधिक पूज्य स्थानीय हैं।

(३) आपके पत्र में जिन पाठों का उल्लेख है, वहां स्पष्टतः मुद्रण भूल नजर आ रही है। ऐसे सभी प्रकरण विचारणीय है। **स्पष्ट नजर आ रही मुद्रण भूलों तथा गलत प्रमाण पतों को यथावत् स्वीकार करने का आग्रही मैं नहीं हूं।** इस समय छप रहे कतिपय संस्करणों में सहस्त्रों मुद्रण भूल साक्षात् दिखाई पड़ रही हैं तो इस बात से कैसे इन्कार किया जा सकता है कि द्वितीय संस्करण में भी मुद्रण भूल रह सकती हैं।

(४) महर्षि जी ने अधिकांश प्रमाण पते स्मृति बल से लिखाये थे। अतः उनमें भी भूल रह सकती है, इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। इनका भी कारण मुद्रण भूल हो सकती है, साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि महर्षि को उपलब्ध सन्दर्भ संस्करणों में तथा आज मिलने वाले संस्करणों में शायद पते का भेद हो।

(५) उपरोक्त ३ व ४ के कारण हुई भूलों का सुधार करना चाहिये, पर ऐसी कोई प्रक्रिया अवश्य अपनानी चाहिये जिससे यह शुद्धिकरण पृथक् से पहचाना जा सके। यथा शुद्ध पाठों तथा प्रमाणों का निर्देश पाद टिप्पणी में किया जावे। अन्यथा ऋषि ग्रन्थों के विभिन्न संस्करणों में कदापि एकरुपता नहीं रहेगी। यही आज सर्वोपरि समस्या है, जितने संस्करण उतने पाठ भेद।

(६) मेरी तुच्छ राय में अगर कोई संशोधन कार्य आवश्यक है, तो मूर्धन्य विद्वानों की एक समिति (अपने अहंकारों को त्याग कर) उसे करे वरना प्रत्येक विद्वान् स्वबुद्धिसामर्थ्य के अनुसार असंगत स्थलों का अभिप्राय निकाल संशोधन कर देगा। आज यही हो रहा है। ऐसे भी प्रमाण हैं कि पूर्व विद्वानों ने ऋषि वाक्य के अन्य अभिप्राय लगाकर परिवर्तन कर दिये, पश्चातवर्ती विद्वानों ने परिवर्तन को गलत ठहराकर परिवर्तन को निरस्त कर दिया। ऐसे कैसे सर्वांग शुद्ध एकरुप सत्यार्थ प्रकाश सामने आवेगा? प्रतीत हो रहे असंगत स्थलों का विभिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न निर्वचन जो सत्यार्थ प्रकाश की एकरुपता में प्रत्यक्ष बाधक है, के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूं:-

(अ) प्रथम समुल्लास - देव शब्द की सिद्धि - यहां पर 'जो शुद्ध जगत् को...' में पं. युधिष्ठिर जी व आपको दोनों को अटपटा लगा है। पं. जी ने 'शुद्ध' को परमात्मा के विशेषण के रुप में लेने को सुझाव दिया है। आपने 'शुद्ध' जगत् को साथ-साथ पढ़ इसका अर्थ - 'धार्मिक जगत् को क्रीड़ा कराने वाला' किया है। यहां यद्यपि यह स्पष्ट नहीं होता कि 'धार्मिक जगत् को क्रीड़ा कराने से क्या अभिप्राय है? फिर भी मैंने यह उदाहरण भिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न समाधान करने को, दर्शाने हेतु किया है।

(ब) 'सर्वेभ्यो बृहत्वाद ब्रह्म' का अर्थ सत्यार्थ प्रकाश के अनेक संस्करणों में नहीं है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने भी 'सबसे बड़ा होने से ब्रह्म है' यह पाठ यहां नहीं बढ़ाया है। आपने बढ़ाया है, ठीक है। पर भिन्नता है।

(स) दयालु नाम सिद्धि में - 'जो अभय का दाता, सत्यासत्य सर्व विद्याओं को जानने...' में पं. युधिष्ठिर मीमांसक का सुझाव है कि सत्यासत्य की जगह 'सत्य-सत्य' पाठ होना चाहिये जबकि आपने सत्यासत्य तथा सर्वविद्याओं के मध्य 'और' लगाकर पाठ स्पष्ट किया है। यहां शायद (,) लगाकर भी काम हो सकता था।

(द) 'यो महतां देवः स महादेवः' पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने यहां - 'जो महान् देवों का देव' किया है। आपने 'जो सर्वमहान्, देवों का भी देव...' ऐसा किया है। स्वामी वेदानन्द जी ने संस्कृत पाठ भी परिवर्तित किया है।

चतुर्थ समुल्लास - ऋतुदान विधि प्रकरण - वाक्य विन्यास शोधन और पाठ भेद - एक उदाहरण-

(१) सं.२, सोंठ, केसर, असगन्ध, छोटी इलायची और सालमिश्री डाल के गर्भ स्नान करके जो प्रथम ही रखा हुआ ठण्डा दूध है, उसको यथारुचि दोनों पी के...

(२) सं. ५ '...सालमिश्री डाल के गर्म करके जो प्रथम ही रखा हुआ ठण्डा दूध है उसको यथारुचि दोनों पी के...' पं. यु.मी. संस्करण में भी यही पाठ है।

(३) सं.३४... सालमिश्री डाल के गर्भ स्नान करके जो प्रथम ही (गर्म कर) रखा हुआ ठण्डा दूध है उसको यथारुचि...।'

स्वामी जगदीश्वरानन्द जी- गर्भाधान के पश्चात्, सोंठ, केसर, असगन्ध, छोटी इलायची और सालमिश्री डालके जो प्रथम ही गर्म करके रखा हुआ ठण्डा दूध है उसको यथारूचि...'

नोट - यहां '**गर्भाधान के पश्चात्**' पाठ आप द्वारा स्वयं जोड़ा गया है।

(५) सं.३७ - ... सालमिश्री डाल के गर्म करके, प्रथम ही रखे हुए ठण्डे दूध को यथारुचि दोनों पीकर...

स्पष्ट है कि सभी संशोधकों ने स्वरुचि के अनुसार वाक्य विन्यास किया है, जो अनावश्यक है। **इस मानसिकता से सत्यार्थ प्रकाश की एकरुपता सम्भव नहीं है**।

ऐसे अनेकशः उदाहरण विभिन्न सम्पादकों के द्वारा सम्पादित सत्यार्थ प्रकाश में से दिये जा सकते हैं। सबने स्वबुद्धि के अनुसार संगति लगाने का प्रयास किया है पर इस क्रम में सत्यार्थ प्रकाश की एकरुपता समाप्त हो गयी। जबकि अगर ये सभी मूर्धन्य विद्वान् परस्पर विचार विमर्श करते (अपने अहंकार को त्याग कर) तो, एक जैसा पाठ निश्चित होने में कोई कठिनाई न होती।

पूज्य प्रवर,

आपने अपने आधुनिक हिन्दी रुपान्तरण में छपे 'दो शब्द' में लिखा है - 'यह ग्रन्थ सन् १८७५ में लिखा गया था।... इस बात को दृष्टि में रखकर महर्षि दयानन्द के ग्रन्थ का यह आधुनिक हिन्दी रुपान्तर किया गया है।' इसमें द्वितीय संस्करण का कहीं भी संकेत मात्र भी नहीं है। अतः अर्थ तो यही निकलता है कि १८७५ के सत्यार्थ प्रकाश (प्रथम संस्करण) का रुपान्तर

है। जबकि प्रथम संस्करण को तो महर्षि जी ने ही रद्द कर दिया था। इस ओर आपका ध्यान आकर्षित करने के लिए यह लिखा है।

यहीं पर 'रुपान्तर करते हुए वाक्य-विन्यास को...उन सभी को यथास्थान कर दिया है' में आपने अपने कार्य की प्रकृति का जो संकेत दिया है उसमें अगर वाक्य विन्यास को छोड़ दिया जावे तो रुपान्तर कहने की आवश्यकता नहीं रहती। अन्य सभी बातें तो आवश्यक हैं बशर्ते **अत्यन्त आवश्यक होने पर ही** विद्वानों की एक समिति द्वारा यह कार्य किया जावे। पाठभेद करने में अत्यन्त कंजूसी बरती जावे। परन्तु आपके द्वारा रुपान्तरित सत्यार्थ प्रकाश में से चतुर्थ समुल्लासान्तर्गत् ऋतुदान प्रकरण, जन्म, दूध पिलाने, धायी आदि से सम्बन्धित पाठों में जो भारी फेरबदल है, पूरे प्रकरण ही गायब हैं, (पृ. ७२ व ७३) उसको क्या कहें?

आपके 'रुपान्तरित सत्यार्थ प्रकाश' में पृ. ७२ पर पंक्ति २५ के पश्चात् - **'जब वीर्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो...गर्भाशय में स्थित करे। पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें।'** तक का पूरा पाठ निकाल दिया गया है। इसी प्रकार इसी पृष्ठ पर पंक्ति २७ में' अपनी-अपनी शैय्या पर शयन करें।' के पश्चात् - **यही विधि जब-जब गर्भाधान क्रिया करें, तब-तब करना उचित है।'** भी आपने निकाल दिया है जबकि अन्य संस्करणों में है। जब आप पृ. ७३ पर '... जब स्त्री फिर रजस्वला हो तब शुद्ध होने के पश्चात् **उसी प्रकार** ऋतुदान देवें।' पाठ को स्वीकार कर रहे हैं। प्रश्न उठता है किस प्रकार? इसके उत्तर में अन्य सभी संस्करणों में ऋतुदान की संक्षिप्त संकेतात्मक विधि है जो आपने हटा दी है।

इसी प्रकार पृ. ७३ पर पंक्ति १६ के पश्चात् पूरा **धायी प्रकरण आपने हटा दिया है।**

जबकि द्वितीय समुल्लास में आपने (पृ. २६) में धायी का जिक्र तो रहने दिया है परन्तु निम्न पाठों को निकाल दिया है -**'क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है, इसी से स्त्री प्रसव समय निर्बल हो जाती है, इसलिये प्रसूता स्त्री दूध न पिलावें। दूध रोकने के लिये स्तन के छिद्र पर उस औषधि का लेप करें, जिससे दूध स्रावित न हो। ऐसे करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवती हो जाती है, तब तक पुरुष ब्रह्मचर्य से वीर्य का निग्रह रखे।'**

इसे निकालने के कारण आगे का वाक्य - '**इस प्रकार** जो स्त्री व पुरुष करेगा... कुछ अटपटा सा हो गया, क्योंकि पूर्व निर्देश तो निकाल दिया गया और प्रश्न उपस्थित हुआ कि - **किस प्रकार**? इससे निबटने के लिये **आपने कोष्ठक में मनमाने तरीके से** (वैदिक और आयुर्वेद की विधि के अनुसार संयम पूर्वक आचरण और गर्भाधान) जोड़ दिया।

क्षमा करें, **यह ऋषि ग्रन्थ की रक्षा है या हत्या?** इसी प्रसंग में आगे **आपने निम्न पाठ भी निकाल दिया** 'स्त्री योनि संकोच, शोधन और पुरुष वीर्य का स्तम्भन करे। पुनः सन्तान जितने होंगे, वे भी सब उत्तम होंगे।'

ऐसा प्रतीत होता है कि द्वितीय तथा चतुर्थ समुल्लास के उक्त प्रकरणों में आपको अश्लीलता दिखाई दी तो आपने पाठ ही निकाल दिए। निवेदन है कि मानव निर्माण के अमर ग्रन्थ में यौन

शिक्षा का अत्यन्त संक्षेप में आना अश्लीलता बिल्कुल नहीं है। क्या चिकित्सा विज्ञान की पुस्तकों में इसका विशद वर्णन अश्लील कहलावेगा? सामान्य जन के लिये सत्यार्थ प्रकाश के ये संकेत आवश्यक हैं। आपका ध्यान आप द्वारा सम्पादित पं. मीरपुरी जी के ट्रेक्ट 'गर्भाधान और योनि संकोचन तथा 'धाया का दूध' की ओर आकर्षित करुंगा।

रुपान्तरित सत्यार्थ प्रकाश के 'दो शब्द' में कहीं भी ऐसा करने का कारण नहीं लिखा है। मान्यवर! **स्वरुचि के अनुसार अगर विद्वज्जन सत्यार्थ प्रकाश के पाठों को स्वीकार या अस्वीकार करते रहे तो इस अमर ग्रन्थ की क्या दशा होगी?** कल को कोई नियोग प्रकरण को और परसों कोई पुत्र परिवर्तन को निकाल देगा और हेतु यह कि महर्षि जी के लेखक बड़े दुष्ट थे उन्होंने यह प्रक्षेप कर दिये। यहाँ निवेदन करना चाहूंगा कि हमें निम्न बातों पर ध्यान अवश्य देना चाहिये।

(अ) सत्यार्थ प्रकाश प्रथम संस्करण में प्रक्षेप के दुःखद प्रकरण के पश्चात् महर्षि जी इस ओर अपेक्षाकृत अत्यधिक सावधान थे।

(ब) द्वितीय संस्करण मुंशी समर्थदान जी की देख रेख में छपा था। समर्थदान जी ने कई बार महर्षि जी द्वारा शोधे गये पत्रों में भी अशुद्धि रह जाने की सूचना महर्षि जी को दी थी। महर्षि जी ने समर्थदान को प्रशस्ति पत्र, सत्यार्थ प्रकाश के टाइटल पेज पर नाम लिखने का अधिकार तथा भाषा सुधार का अधिकार दिया था। अतः समर्थदान जी की विश्वसनीयता पर अविश्वास नहीं करना चाहिये। हां भूल रह जाती हैं, **केवल और केवल** उन्हीं का निराकरण करना चाहिये।

यहाँ मैं आपको यह भी स्मरण करा दूं कि धायी प्रकरण, ऋतुदान विधि, नियोग, पुत्र परिवर्तन आदि को पौराणिकों के आक्षेप करने पर आर्य विद्वानों ने निर्विवाद रुप से वेदानुकूल सिद्ध किया। यह आपश्री के द्वारा ही सम्पादित मीरपुरी सर्वस्व तथा पौराणिक पोल प्रकाश आदि से स्पष्ट है। अतः इन प्रकरणों को निकालने का कोई औचित्य नहीं है। वैसे भी **किसी लेखक की रचना में फेरफार का हमें क्या अधिकार हो सकता है?** क्षमायाचना सहित कहना चाहूंगा कि उक्त कार्य सर्वथा अनुचित है। आपको शीघ्रातिशीघ्र उक्त स्थलों को समाविष्ट करना चाहिये।

मान्यवर, आपने पत्र में लिखा है और खूब लिखा है -'मेरा उद्देश्य है कि हम अपने आचार्य के ग्रन्थों को इतना सुन्दर, भव्य, आकर्षक, त्रुटिरहित छापें कि कोई माई का लाल अंगुली न रख सके कि यहां अशुद्धि है' पर भगवन यह होगा कैसे? एक नजर में देखने पर दो प्रकरणों की गैर मौजूदगी आपके रुपान्तरण में मिली है। न जाने और जगह क्या स्थिति होगी? उधर परोपकारिणी सभा ने ३७वां संस्करण विरजानन्द जी दैवकरणि जी के सम्पादकत्व में छापा है। वहां इतने व्यापक पाठभेद है कि द्वाद्वश समुल्लास के १० पृष्ठों में १३६ पाठभेद ही नहीं पैराभेद की सारिणी मैंने बनायी है। वे और भगवती लेजर वाले इसी को शुद्धतम घोषित कर रहे हैं आप अपने को अभिनव संस्करण कह रहे हैं। दोनों में व्यापक भेद है। कृपया मार्गदर्शन करें आर्य जनता किसे स्वीकार करे। जबकि उनका दावा है कि उनसे पूर्व सभी सम्पादकों ने सम्पादन कार्य नाम मात्र का किया

है। प्रमादजन्य कार्य है। पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने परोपकारिणी सभा के ३७वें संस्करण को कालूराम शास्त्री के कार्य से भी ज्यादा अक्षम्य माना है। **स्पष्ट है कि विद्वानों के अहंकार और पाण्डित्य प्रदर्शन की लालसा में सत्यार्थ प्रकाश की दुर्गति हो रही है।** क्या यही ऋषि भक्ति है? हम जब ध्यानाकर्षण का प्रयास करते हैं तो विद्वानों की भृकुटि तन जाती है कि तुच्छ अकिंचन व्यक्ति ऐसा साहस कैसे कर सकता है? हमारा निवेदन है कि हम विद्वानों की श्रेणी में कदापि नहीं हैं, सत्य है। पर ऐसे समय में जब सत्यार्थ प्रकाश को अपने ही चिराग से आग लग रही है और मूर्धन्य सभाएं आंखें मीच बैठी हैं किसी को तो विद्वानों का, आर्य जनता का ध्यान इस और आकर्षित करना ही होगा। प्रसंगवश निवेदन कर दूं कि मेरे पास मान्य विद्वानों के पत्र आए हैं, प्रतिनिधि सभाओं के प्रस्ताव हैं जिनमें उन्होंने संशोधकों के कृत्य की निन्दा की है। सत्यार्थ प्रकाश न्यास के अध्यक्ष पू. स्वामी तत्वबोध जी सरस्वती की तीव्र इच्छा है कि सत्यार्थ प्रकाश में संशोधनों की प्रक्रिया का पुनरीक्षण होकर **मूर्धन्य विद्वानों की देखरेख में सर्वांग शुद्ध एकरुप सत्यार्थ प्रकाश छपे जो अपने मूल स्वरुप (द्वितीय संस्करण) से न्यूनतम दूर हो।** विद्वानों की सेवा में यही निवेदन करने के प्रयास में लगा हूं। इसमें मेरा यत्किंच भी स्वार्थ नहीं है।

आपने लिखा है कि 'न्यास के प्रकाशन मंहगे हैं यह व्यापार है।' स्वीकार है। पर इसका उपयोग किस प्रकार एक निश्चित योजना के तहत् वेद प्रचार के अन्तर्गत निःशुल्क साहित्य वितरण में हो रहा है यह, कभी आपके दर्शनों का सुयोग मिलेगा तो निवेदन करुंगा।

पू. स्वामी जी, आपके श्रीचरणों में यही निवेदन है कि सत्यार्थ प्रकाश की रक्षा में विद्वानों के साथ मिलकर आप प्रयास करें। जब हमारे विद्वान् पूर्वाग्रह छोड़ देंगे तो मंजिल प्राप्य ही है।

कृपा पत्र की प्रतीक्षा में।

भवदीय

श्रीमद् दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश न्यास,
(अशोक आर्य)

अपनों के ही अहसाँ क्या कम हैं गैरों से शिकायत क्या होगी ?

आज आर्य जगत् की जो दशा व दिशा है वह चिन्त्य है ! क्या संगठन, क्या सिद्धान्त, कथनी और करनी में एकता के भाव, अनुशासन सभी मोर्चों पर शिथिलता सम्मुख है! आए दिन आर्य सिद्धान्तों पर आर्य समाजेतर व्यक्तियों के आक्रमण होते रहते हैं पर मैं ऋषि भक्तों के समक्ष निवेदन करना चाहता हूं कि **आज आर्य समाज को बाहर की अपेक्षा अन्दर से खतरा अधिक है !**

परोपकारी के सम्पादक आदरणीय डॉ.धर्मवीर जी ने पिछले ६-७ माह से आर्य समाज पर हो रहे बाह्य आक्रमणों के विरूद्ध अभियान चलाया है, जो स्तुत्य है ! मैं यही निवेदन करना चाहता हूं कि ब्राह्य आक्रमण उतने घातक नहीं जितने कि अन्दरूनी ! क्योंकि ब्राह्य आक्रमण के प्रति हम सचेत रहते हैं ! वह हमें अधिक प्रभावित भी नहीं करते क्योंकि हमें पता होता है कि यह तो विद्वेषियों का विषवमन है ! पर जब ऐसा हमारे विद्वान्, हमारी पत्रिकाओं द्वारा किया जाता है तो आम आर्य समाजी भ्रमित हो सिद्धान्त विरोधी बातों को भी सच समझ पथ से भटक जाता है ! गायत्री परिवार के संस्थापक आचार्य श्री राम शर्मा क्योंकि पूर्व में आर्य समाजी थे अतएव यह संस्था आर्य समाज में सेंध लगाने में सर्वाधिक सफल रही ! यहां तक कि आर्य समाज के नामचीन विद्वान् भी इनके मंचों पर जाकर इनकी स्तुति करते रहे ! इस आन्तरिक आक्रमण के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं !

(क) 'आर्य सेवक' आर्य जगत् की सम्मानित पत्रिका है तथा पिछले दो वर्ष से इसके सम्पादक आदरणीय आदित्य मुनि जी ने जो अनथक परिश्रम कर इसे स्तरीय बनाया है उसकी मिसाल कम ही मिल पाती है ! शायद ही ऐसा कोई उदाहरण हो जब आदित्य मुनि जी की तरह पत्रिका की खातिर कोई सम्पादक उपवास रखे ! इसमें गत ५-६ माह से एक स्तम्भ प्रारम्भ कर उसमें वेदों के ऊपर शंकाएँ प्रस्तुत की जाती रही हैं ! आर्य समाज एक बुद्धिजीवी संगठन है अतएव तर्क को ऋषि मानने वाली इस संस्था की पत्रिकाओं में इसके अपने सिद्धान्तों पर की गई शंकाओं को स्थान न दें यह तो उचित प्रतीत नहीं होता परन्तु बिना ठोस समाधान साथ में दिए इन्हें प्रकाशित करने के भयावह दुष्परिणाम की ओर संभवतः सम्पादक जी का ध्यान नहीं पहुंचा !

इन शंकाओं का एक अथवा दो बार ही समाधान छापा गया, इस पर भी सम्पादक जी ने एक ऐसी टिप्पणी दे दी जिससे प्रतीत होता है कि सम्पादक जी शंकाओं के पक्ष में हैं ! हमारा कहना है कि वेद का अपौरुषेयत्त्व व निर्भ्रान्त होना आर्य समाज तथा दयानन्द के सिद्धान्तों की आधारशिला है ! ऋषि ने पर्याप्त चिन्तन मनन के पश्चात् इस सिद्धान्त को स्वीकार किया और इसमें वे किसी के साथ लेश मात्र भी समझौते के पक्ष में नहीं थे यह सर्वविदित है !

आज आम आर्यजन स्वाध्याय विहीन हैं और जितनी दुरूह ये शंकाएँ हैं हमें लगता है कि ९९.५ प्रतिशत आर्य समाजी इन्हें पढ़कर और इनकी प्रस्तुति इस प्रकार होने से कि इसमें आदित्य मुनि जी जैसे विद्वान् संपादक की भी सहमति प्रतीत हो, भ्रम की स्थिति में होगा ! क्योंकि ये शंकाएं

एक आर्य पत्र में बिना ठोस समाधान के छपी हैं अतः इनकी सत्यता पर आर्यजन विश्वास कर वेदों के ऊपर अपनी आस्था खो देंगे ! क्योंकि भ्रम निवारणार्थ सक्षम विद्वानों को अवकाश नहीं है ! आर्य समाज और ऋषि को समाप्त करने हेतु एक यही प्रकार काफी है ! हमारी बात कितनी सत्य है इसका प्रमाण यह है कि जबसे ये शंकाऐं छपनी प्रारम्भ हुई हैं इसी पत्र में श्री जयदत्त जी उप्रेती एवं डॉ.कृष्णलाल तथा एकाध अन्य विद्वान् का समाधान भी छपा है परन्तु लगभग २३ पत्रिकाएं प्रतिमास देखने पर भी मुझे अन्यत्र इस विषय पर एक शब्द भी देखने को नहीं मिला ! यह है आर्य जगत् की आज की चेतना का स्तर !

यह भी विचारणीय है कि सम्पादक जी ने शंका छापने के साथ ही स्वयं तो इसका निराकरण न किया वरन् जिन डॉ. जयदत्त जी उप्रेती आदि ने इसके समाधान का प्रयास किया उनके लेख में सम्पादकीय टिप्पणी इस प्रकार दे दी 'विद्वान् लेखक ने अपने विषय के प्रतिपादन में केवल शास्त्रों एवं आप्तों के परम्परागत प्रमाण ही उद्धृत किए हैं ! लेकिन जब तक आर्य सेवक के अप्रेल ०४ के पृष्ठ १० पर उद्धृत दो परस्पर विरुद्धार्थक वेदमन्त्रों (ऋ.१/४१/१ एवं सा.१८५ पू. २/२/५/१) का समाधान नहीं किया जाएगा, तब तक वेदों का अपौरुषेयत्त्व शंकास्पद ही रहेगा !' विचित्र बात है,क्या शास्त्रों व आप्तों के वचन प्रमाण कोटि में नहीं आते ? यहां हम एक बात और कहना चाहेंगे, क्या मात्र संस्कृत और व्याकरण का पण्डित होना वेदार्थ दर्शन की क्षमता प्रदान कर देता है ? कदापि नहीं ! वेद मन्त्रों के सही आशय साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों को ही सुलभ होते हैं ! इसीलिए वेद साक्षात्कार कर्त्ताओं की संज्ञा ऋषि है ! योगज समाधि से प्रस्फुटित मेधा परमात्मा के सानिध्य में वेद मन्त्रों के सूक्ष्म अर्थ को समझ पाती है ! ऐसा साक्षात्कृतधर्मा ऋषि ही, मंत्रस्थ कर्त्ता कौन है ? क्रिया क्या है ?, इत्यादि का निर्णय कर पाता है ! ऋचाऐं उसके समक्ष अपना रहस्य स्वयं प्रकट कर देती हैं ! दयानन्द को सिर्फ स्वामी दयानन्द न कह कर ऋषि की पदवी इसी कारण दी है कि वे साक्षात्कृतधर्मा ऋषि थे ! उनके जीवन चरित्र से उनके वेदभाष्य करने के प्रकार पर प्रकाश पड़ता है ! ऋषि प्रायः संदर्भ,प्रकरण,देवता,पूर्वापर प्रसंग को समझ, आधा घण्टे/घण्टे की समाधि एकान्त में लगाते थे तत्पश्चात् वेदार्थ करते थे ! (स्मरण रखें कि व्याकरण सूर्य दण्डी विरजानन्द जी जो कि महर्षिवर के गुरु थे उनको भी ऋषि पद, मंत्र द्रष्टा न होने के कारण प्राप्त नहीं है !)

ऐसे साक्षात्कृतधर्मा ऋषि का सिंहनाद है कि वेद अपौरूषेय हैं, निर्भ्रान्त हैं, स्वतः प्रमाण हैं ! ऐसे आप्त का वचन तब तक प्रमाण ही है जब तक उसे वेद विरुद्ध सिद्ध न किया जावे ! क्या शंकाओं के प्रस्तुतकर्त्ता साक्षात् कृतधर्मा ऋषि हैं ? यदि नहीं तो वेद के बारे में उनका कथन महत्त्व नहीं रखता ! उनकी गिनती प्राचीनकाल से अद्यतन उन अनेक पण्डितों में है जो संस्कृत के विद्वान् होने के नाते अपने को वेद भाष्य करने का अधिकारी मान अनधिकार चेष्टा कर वेद के बारे में नाना भ्रम अनुभव करते रहे हैं ! आर्यों के लिए वेद का स्थान निर्धारित करने के लिए महर्षि का निर्णय पत्थर की लकीर है ! आप हमें इस विषय में रूढ़िवादी कहें तो कहें !

यह भी विचारणीय है कि गुरुवर विरजानन्द के आर्ष ग्रन्थ प्रमाणवाद का हमारी दृष्टि में क्या स्थान है ? कहते हैं कि विरजानन्द जी ने दयानन्द को सर्वप्रथम, पढ़े हुए सभी अनार्ष ग्रंथों को न सिर्फ भूल जाने को कहा था बल्कि उनकी पोथियां यमुना में विसर्जित करने की आज्ञा दी ! ऋषि

ने गुरू के इस सूत्र का कभी त्याग नहीं किया ! वे भी अनार्ष ग्रन्थों को त्यक्तव्य तथा वेद संहिताओं को स्वतः प्रमाण तथा आर्ष ग्रन्थों को परतः प्रमाण मानते थे ! क्यों ? क्या अनार्ष ग्रन्थों के प्रणेता विद्वान् नहीं थे ? स्वीकार करना पड़ेगा विद्वान् तो थे पर ऋषि न थे अतः उनकी रचनाऐं निर्भ्रान्त नहीं थीं ! स्पष्ट है अनृषि कोटि के विद्वान् वेद रहस्य के संबंध में अधिकारी नहीं हैं ! यही स्थिति इन शंकाओं के प्रस्तोता की है !

सम्पादक जी की उपर्युक्त टिप्पणी से स्पष्ट होता है कि सम्पादक जी शंकाकर्त्ता से पूर्ण सहमति रख, एकाध विद्वान् द्वारा जो समाधान दिया गया उसे महत्त्वहीन बताने वाली टिप्पणी भी दे रहे हैं ! आर्य सेवक नवम्बर अंक पृ.४८ की टिप्पणी भी यही कह रही है! इसका परिणाम यह होगा कि हमारे जैसे लाखों आर्यजन जो वेद के प्रति श्रद्धा में तो आकण्ठ डूबे हैं पर इस विषय में विशेष गति नहीं रखते हैं, भ्रमहीन हो आस्था खो बैठेंगे!

एक आर्य पत्रिका में जिसका सम्पूर्ण खर्च आर्यों की जेब से निकलता है, उसके मूल आधार पर शंका व समाधान प्रस्तुति का यह प्रकार अत्यन्त खतरनाक है ! हमारा कहना है कि:-

(१) यदि सम्पादक जी वेद के प्रति स्वयं शंकाग्रस्त हैं तो तब तक आर्य प्रतिनिधि सभा के मुख पत्र के सम्पादक रहने का उनको नैतिक अधिकार नहीं है जब तक वे इसका समाधान न कर लें ! ध्यान देवें स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपनी आत्म कथा में आर्य समाज के एक ऐसे उप प्रधान के त्याग पत्र की चर्चा की है जिन्होंने केवल इसी कारण त्याग पत्र दे दिया कि अभी आर्य समाज के तीसरे नियम के विषय में उनको कुछ शंका थी ! महात्मा जी ने इसे सद्धर्म प्रचारक में छापा था !

(२) अगर उपरोक्त स्थिति नहीं है तो निवेदन है कि यद्यपि सम्पादन धर्म कहता है कि विपक्षी के पक्ष को भी प्रस्तुत करना चाहिए अतः इस धर्म का निर्वहन तो करें, पर आर्य जगत् के प्रति भी अपने गुरू गम्भीर दायित्व को अनुभव करते हुए साथ में ही शंका का ठोस समाधान भी प्रस्तुत कर दें ! यदि शंका का समाधान उनके पास न हो तो अन्य विद्वानों से पहले पूर्ण निराकरण करवा के फिर शंका एवं समाधान छापें तो यह प्रशस्त है ! 'पवमान में आदरणीय आचार्य यशपाल जी आर्य समाज के मन्तव्यों से संबंधित शंकाऐं प्रस्तुत कर, साथ ही समुचित समाधान कर देते हैं ! यही प्रकार सही है !

अगर ऐसी मानसिकता नहीं है तो फिर क्या बात है, आर्य समाज के सिद्धान्तों पर आक्षेप करने वाली सहस्रों नहीं लाखों पृष्ठ की सामग्री उपलब्ध है, छापते रहें ! इस मृत प्रायः समाज पर यही कीली ठोकनी आवश्यक थी ? अब तो यही शेष रहा प्रतीत होता है कि निष्पक्षता का सर्वोच्च पुरस्कार प्राप्त करने हेतु आर्य समाज के उत्सवों पर अवैदिक धारणा वाले विद्वानों के प्रवचन कराए जावें !

सम्पादक जी आर्य विद्वान् हैं हम पाठक उन्हीं के द्वारा इनका समाधान भी मांगते हैं ! या वे स्पष्ट कहें कि ऋषि के निर्धारित किए वेद संबंधी नियमों से वे सहमत नहीं हैं ! और पंचम वेद बने यह उनकी भी अभिलाषा है ! ताकि पाठक किसी भ्रम में न रहे !

दिसम्बर २००४ का आर्य सेवक हमारे समक्ष है। इस कारण पूर्व लिखे इस लेख में निम्न विचार और जोड़ना चाहता हूं। पृ.५४ पर, आदरणीय बन्धु आदित्य मुनि जी द्वारा पूज्य पंडित गंगाप्रसाद जी उपाध्याय का एक संदर्भ छाप, पुनः पंडित उपेन्द्र राव जी की शंकाओं को मौलिक अनुसंधान के क्षेत्र में माना है। ठीक है, अगर परमेश्वरोक्त ज्ञान, साक्षात्कृतधर्मा मंत्रद्रष्टा ऋषि, आदि ज्ञान का लौकिक व्याकरणों से परीक्षण पूरी तरह संभव नहीं, आदि अवधारणाओं को नकार कर बुद्धि के भौतिक उपकरण मात्र को अनुसंधान का आधार मानना है तो हमारा कहना है कि इस क्षेत्र में पाश्चात्य विचारकों की पद्धति सर्वोपरि ठहरेगी। पुनः मैक्समूलर, मेकडानल, कीथ सरीखे बीसियों स्कालरों के वेद के अपौरुषेयत्व पर किये गये आक्षेपों को छापिये और उसका समाधान करने हेतु आर्य विद्वानों को ललकारिये।

महर्षि का स्पष्ट कथन है कि परमेश्वर का प्रत्यक्ष भी होता है। तर्क के धरातल पर अनेकानेक स्कालरों द्वारा इस मान्यता पर की गई शंकाओं को छापिये और अनुसंधान करवाइये।

ब्रह्मा से लेकर महर्षि दयानन्द तक के साक्षात्कृतधर्मा ऋषि योगज मेधा बुद्धि से निरीक्षण परीक्षण करके पूर्णतः अनुसंधान कर जिस सिद्धान्त को सुस्थापित कर चुके हैं, पुनः उन पर अनुसंधान के नाम पर शंकाऐं प्रस्तुत करने से लाभ तो कुछ नहीं हॉ हानि भयंकर है। क्या यह माना जावे कि ऋषि ने बिना अनुसंधान के अपने सिद्धान्त निर्धारित किये थे? अगर ऐसा नहीं मानते तो क्या यह माना जाये कि पंडित उपेन्द्र राव जी का पाण्डित्य ऋषि से अधिक है। हमने तो पढ़ा है ऋषि ने ३००० ग्रन्थों का अध्ययन मनन कर,वे सिद्धान्त निश्चयात्मक रूप से प्रकट किये थे जो स्वमन्तव्यामन्तव्य, आर्योद्देश्य रत्न माला तथा अन्यत्र सूत्रबद्ध किये गये हैं।

हम तो इसी अंक में छपे पूज्य स्वामी विवेकानन्द जी के लेख से निम्न पंक्तियॉ उद्धृत करना चाहते हैं।

'आर्य समाज के विद्वान् अपने ही आचार्य से स्पष्ट सिद्धान्तों एवं विचारों में छिद्रान्वेषण कर इसे विवादास्पद एवं संशयात्मक बना रहे हैं। आर्य समाज के अधिकारियों एवं विद्वानों को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये जिससे भावी पीढ़ी ऋषि दयानन्द के वैदिक सिद्धान्तों से दिग्भ्रान्त न हो सके।'

इसी अंक के आवरण पृष्ठ सं.४ पर 'आर्य सभासद के संकल्प' छपे हैं जो किसी भी आर्य सभासद् द्वारा पालनीय हैं। माननीय आदित्य मुनि जी की टिप्पणी है-'ऐसा संकल्प पत्र प्रत्येक सभासद को भरकर अपनी आर्य समाज को देना चाहिए और इसका पूर्ण निष्ठा के साथ अनुपालन करना चाहिये।'

इसका प्रथम संकल्प है-'वेदों पर आधारित महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में वर्णित विचारों, सिद्धान्तों, उद्देश्यों, आर्य समाज के दस नियमों, अट्ठाईस उप नियमों, इक्यावन स्वमन्तव्या-मन्तव्यों को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकारता हूं।'

पंडित उपेन्द्र राव जी की शंकाओं से पूर्ण सहमति रखने वाले आदरणीय आदित्य मुनि जी इस प्रथम संकल्प की किस निष्ठा से अनुपालना कर रहे हैं? उन्हें विचारना चाहिये।

निवेदन है कि तर्क वितर्क, उहापोह के पश्चात् जिसे निश्चयात्मक रूप से स्वीकार कर लिया जाय वही 'स्वीकारना' होता है। पुनः वहाँ शंका का अवकाश कहाँ ?

मीडिया का प्रभावः- आज मीडिया के सर्वोपरि प्रभाव से कौन इन्कार कर सकता है ? आदत कुछ ऐसी हो गई है कि जो कुछ प्रिन्ट मीडिया में अथवा टी.वी. पर आ जाता है ! प्राथमिक रूप से सही समझ लिया जाता है ! आर्य जनों पर भी आर्य पत्रिकाओं का कमोबेश यह प्रभाव है ! अतः इनके सम्पादकों की ताकत अतुलनीय है परन्तु इस शक्ति के साथ उनके दायित्व भी अति गम्भीर हैं ऐसा उन्हें अनुभव करना चाहिए ! उनके पत्र का आर्य समाज की उन्नति में सकारात्मक योगदान हो,यह उन्हें सर्वकाल में स्मरण करना चाहिए!

(ख) आर्य जगत् के एक वेदज्ञ विद्वान्,एक प्रतिष्ठित पत्रिका में छपे लेख में लिखते हैं:- 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' में वदन्ति का अर्थ कहना अथवा पुकारना नहीं 'गति करना' है अतः इसका तात्पर्य यह है कि विद्वान् लोग परम पिता परमात्मा की ओर भिन्न-भिन्न प्रकार से गति करते हैं !' द्रष्टव्यः- 'एक सत् की ओर मेधावी बहुत प्रकार से जा रहे हैं। प्रत्येक साधक अपने अनुकूल विधि से एक सत् की उपासना में लग रहा है ।'

इस अभिकथन का निहितार्थ हमारी तुच्छ सम्मति में तो वैदिक मान्यता के विरूद्ध नाना प्रकार की उपासनाओं को वेद का आधार प्रदान करना है ! महर्षि जी ने अपने वेद भाष्य में, सत्यार्थ प्रकाश में तथा अन्यत्र 'वदन्ति' का अर्थ पुकारना, कहना ही किया है ! पर लेख का परिमार्जन नहीं किया गया !

(ग) एक प्रतिष्ठित पत्रिका में एक विद्वान् का लेख था कि सृष्टि रचना के समय जब ग्रह नक्षत्र बन रहे थे तब उस प्रक्रिया में होने वाली ध्वनि ही वेद मंत्र थी ! द्रष्टव्यः-'मनुष्य बनने से पूर्व अग्नि, पृथिवी, चन्द्र ग्रह आदि देवताओं की विचित्र गतियों से जो ध्वनियां उठीं और जो दैवी गान होते थे - वे ही वेद मन्त्र हैं। ' 'वेद ने कहा कि ग्रहों आदि की गतियों से जो आवाज पैदा हुई- वही तो देववाणी थी...।' 'बुद्धिपूर्वक वाक्य कृतिर्वेदे', 'सर्वज्ञानमयो हि सः' से विभूषित वेद वाणी पिण्डों के घर्षण से उत्पन्न हुई थी, यह तभी पता चला इसका खण्डन सम्पादक जी ने छापा नहीं ! अगर अलंकारिक रूप में लेखक ने उक्त बात कहीं थी आशय कुछ और था तो कभी किसी ने लेख पर टिप्पणी न की !

(घ) एक प्रतिष्ठित पत्रिका ने एक आर्य विद्वान् का लेख छापा - 'वेद मंत्रों से सिद्ध होता है कि सरस्वती वैदिक काल में भरपूर जल युक्त बहती थी !' द्रष्टव्यः-'ऋग्वेद में सरस्वती के लिए एक पूरा लम्बा सूक्त ही अ ाता है। उनकी सहायक नदियों के लिए दो मंत्र आते हैं। नदियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण नदी सरस्वती है। सरस्वती को नदियों की मां कहा गया है ! सात सहायक नदियाँ उनकी सात बहिनें हैं। ऋग्वेद में राजा नाहुष और सरस्वती की एक कथा मिलती है। ......।'

'हमारे आदि ग्रन्थ वेद में सरस्वती की जो महिमा है, उसके आधार पर यह दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में यह नदी अपने विशाल स्वरूप में विद्यमान थी जो प्राकृतिक कारणों से लुप्त हो गयी ।' इस पर भी कुछ टीका देखने में न आयी ! न कभी किसी विद्वान् से कुछ सुना !

(ड.) एक विद्वान् ने लिखा कि मैक्समूलर पश्चिम के ऋषि थे ! महर्षि जी उनको 'मोक्षमूलर इसलिए कहते थे कि महर्षि जी मानते थे कि मैक्समूलर की आत्मा मोक्षाभिमुख थी ! जब हमने आदर सहित प्रत्याखान किया तो न उन विद्वान् मित्र ने उत्तर दिया न इस पत्रिका ने छापा !

(च) एक प्रसिद्ध आर्य संन्यासी जी ने अपने एक लेख में जैन और बौद्ध मतों के उन्नयन को 'आर्य संस्कृति पुनर्स्थापना का प्रयास' बताया ओर यह भी लिखा कि इन दोनों को महानास्तिक घोषित कर जड़ से उखाड़ने की कोशिश तथाकथित धर्मध्वजियों ने की ! यहां इनकी दृष्टि में आर्य संस्कृति से क्या अभिप्राय है, जिसकी पुनर्स्थापना का प्रयास महावीर व बुद्ध ने किया, यह जानने का प्रयत्न न किया गया ! यहां यह भी विचारणीय है कि इन दोनों मतों को नास्तिक बताकर खण्डन करने वाले महर्षि दयानन्द का इनके 'हृदय' में क्या स्थान है ?

पाठकगण ! आर्य समाज की वर्त्तमान दशा तथा अन्यान्य कार्यों में व्यस्त हमारे विद्वानों की प्राथमिकताओं पर हम क्या लिखें ? ऋषि के कालजयी ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश पर जिस प्रकार विद्वानों ने कृपा की है उस पीड़ा को कितने आर्यों ने अनुभव किया है कह नहीं सकते ! स्वामी जगदीश्वरानन्द जी ने जिस प्रकार ऋषि की अमर कृति पर सम्पादकीय कैंची चलाई है, क्या वह आर्यों के ध्यान में नहीं है ? या विरजानन्द जी दैवकरणि द्वारा सम्पादित परोपकारिणी सभा के ३७ वें तथा ३८ वें संस्करण पर हमने ध्यान नहीं दिया जहां से सत्यार्थ प्रकाश में व्यापक फेरबदल की शुरूआत हुई और विद्वानों का साहस बढ़ा कि वे आर्यों के इस 'आस्था केन्द्र' को मनचाहा रूप प्रदान करें ! **एक अकेले विरजानन्द जी ने ४-५ सत्यार्थ प्रकाशों को प्रस्तुत किया सभी में संस्करण दो से सहस्रों तथा परस्पर सैकड़ों पाठभेद हैं !** पर आर्य जगत् के कर्णधारों की तन्द्रा अब तक न टूटी ! इनके सहधर्मी भी ऋषि-ग्रन्थों की सुरक्षा से मित्रता का निर्वहन अधिक आवश्यक मानते हैं ! यही कारण है ऐसा करने वाले आज भी अपनी दादागिरी बरकरार रख पा रहे हैं और प्रश्न चिन्ह उठाने वाले हम जैसे, कई मान्य सम्पादकों की 'ब्लैक लिस्ट' में आ चुके हैं ! पर सत्य स्वीकार करने को न जगदीश्वरानन्द जी उद्यत हैं और न ही विरजानन्द जी!

ऐसी परिस्थितियों में हम जैसे साधारण कार्यकर्त्ता ऋषि भक्त विद्वत्जन तथा सुधी आर्य जनों की ओर आशा भरी नजरों से देख सकते हैं ! यह आलेख इसलिए लिखा है कि बाहृय आक्रमणकर्त्ताओं से भी पूर्व आस्तीन के साँपों से निबटना हमारी प्राथमिकता हो ! हृदय की पीड़ा आपके समक्ष रखी है कोई बात अन्यथा लगी हो तो कृपया उदारतापूर्वक क्षमा करें !

भवदीय

(अशोक आर्य)
कार्यकारी अध्यक्ष
चलभाष ६४१४१६२४०१